Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रजातन्त्र अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था

गुरुदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
167938

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रजातंत्र
अथवा
वर्णाश्रम व्यवस्था

गुरुदत्त

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा उद्देश्य

विशुद्ध भारतीय तत्त्व-दर्शन पर सम्यक् गवेषणा करना तथा उसका प्रचार करना एवं उसके आधार पर राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत सभी समस्याओं का सुलझाव प्रस्तुत करना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रजातन्त्र
अथवा
वर्णाश्रम व्यवस्था

लेखक

गुरुदत्त

081
167938

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Stor
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegiou
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

******

Central Library
167938
Gurukul Kangri University, Haridwar

हिन्दी साहित्य सदन
नई दिल्ली-110005

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
089.9143
GUR-P

वर्तमान प्रजातन्त्र जिसने अनाचार, दुराचार, अत्याचार, रिश्वतखोरी, कुनबापरस्ती तथा दुनिया भर की बुराइयों को जन्म दिया है, को देखकर कभी कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह प्रजातंत्र कहीं एक धोखा तो नहीं है?

श्री गुरुदत्त की प्रस्तुत रचना इसी विषय पर प्रकाश डालती है तथा इसका स्थानापन्न प्रस्तुत करती है।

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सदन
2 बी डी चैम्बर्स, 10/54 देश बंधु गुप्ता मार्ग,
समीप करोल बाग पुलिस स्टेशन, न० दि०-5
दूरभाष : 23553624, फैक्स 91-11-23553624
e mail: indiabooks@rediffmail.com

संस्करण : द्वितीय, 2003

मूल्य : 60/-

मुद्रक :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम खण्ड

: 1 :

वर्तमान युग का धर्म

भूमण्डल में छोटे-बड़े एक सौ पचीस से ऊपर स्वतन्त्र देश हैं। ये देश भूमण्डल की एक सार्वभौमिक संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं। इन सब देशों की व्यवस्था न्यूनाधिक जन-साधारण की इच्छा से चलायी जा रही है। जो कुछ अधिकार जन-साधारण को किसी देश में प्राप्त हैं, उनसे अधिक अधिकारों की माँग वहाँ की जनता कर रही है। कुछ तो ऐसे देश हैं, जहाँ जन-साधारण सब प्रकार के नियन्त्रणों को तोड़ कर मनमानी करने के पीछे चल पड़ा है और कुछ ऐसे देश हैं, जहाँ जन-साधारण के अधिकार अति सीमित हैं। वे मनमानी करना तो दूर रहा, मन की बात कह भी नहीं सकते। इस पर भी इन दोनों प्रकार के और इनके बीच अन्य अनेकों प्रकार के देशों मे जनता अधिक और अधिक स्वतन्त्रता और भोगों की इच्छा करती रहती है। अत: वर्तमान युग का धर्म, एक शब्द में, जन धर्म कहा जा सकता है। अर्थात् इस समय भूमण्डल के सब देशों में जनता अनियन्त्रित होने की ओर प्रगति कर रही है।

इस जन-धर्म को प्रजातन्त्र, गणतन्त्र, डेमोक्रेसी, रिपब्लिक इत्यादि नामों से स्मरण किया जाता है। ये नाम पर्यायवाचक नहीं हैं। जहाँ-जहाँ ये प्रयोग में लाये जाते हैं, वहाँ-वहाँ पर इनके भिन्न-भिन्न अर्थ लिये जाते हैं। उदाहरण के रूप में भारत में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था है। भारत के राज्य को डेमोक्रैटिक रिपब्लिक कहा जाता है। परन्तु भारत में समाज की व्यवस्था रूस की समाज की व्यवस्था से सर्वथा भिन्न है। इस पर भी रूस में राज्य व्यवस्था को डेमोक्रैटिक स्टेट ही माना जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त शब्द जहाँ-जहाँ प्रयोग किये जाते हैं, वहाँ-वहाँ उनके अपने निश्चित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ होते हैं। ये अर्थ भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। इस पर भी इन सब में, अभिप्राय यह कि भूमण्डल के सब देशों में, 'जन-धर्म' व्यापक रूप में प्रगति कर रहा है। यह भी कहा जा सकता है कि सब देशों में जनता अधिक और अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने के पीछे चल पड़ी है।

मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह नियंत्रणों से स्वतन्त्र रहना चाहता है। यह प्रवृत्ति उसमें आदि काल से चली आ रही है। परन्तु इस स्वतन्त्रता का भोग करते हुए इसने अनेक बार संसार में दुःख की ही सृष्टि की है। आदि युग से आज तक जितने भी युद्ध हुए हैं अथवा जितनी भी क्रान्तियाँ, संघर्ष, बलवे अथवा लूट-पाट हुई हैं, सब-की-सब किसी न किसी व्यक्ति अथवा जन-समूह की स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा उसके उपभोग के अनुरूप ही हुई हैं। इस दुःख की सृष्टि को देखकर जनता नें अपनी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का यत्न किया है। उस यत्न में एक विस्तृत शास्त्र की रचना हुई है। यह शास्त्र समाजशास्त्र के नाम से स्मरण किया जाता है। समाजशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में महाभारत में एक कथा आती है। यह कथा इस प्रकार है:

आदि सृष्टि में सब मनुष्य धर्मानुसार व्यवहार रखते थे। सब एक-दूसरे के हितों की धर्मानुसार रक्षा करते थे। परन्तु कुछ काल व्यतीत हो जाने के उपरान्त काम और मोह के वशीभूत हो मनुष्य धर्म को भूल गये। वे कर्तव्य-अकर्तव्य में भेद-भाव नहीं कर सके। भक्ष्याभक्ष्य में भेद नहीं समझ सके और उचित-अनुचित में अन्तर नही जान सके। यह सब हुआ काम और मोह के वश में होकर धर्म को विस्मरण करने से। इसका परिणाम यह हुआ कि बलशाली दुर्बलों पर अत्याचार करने लगे। बहुत-से दुष्ट लोग मिलकर भले लोगों को पराजित करने लगे। वे मिलकर संघ बनाने लगे और संघ बनाकर भले लोगों के संघों को पराजित कर उनका दुरुपयोग करने लगे।

ऐसा क्यों हुआ? कथाकार का कहना है कि काम और मोह के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
वशीभूत हो लोग ऐसे हो गये। आदि सृष्टि में मनुष्यों में काम और मोह क्यो नहीं था और पीछे क्यों उत्पन्न हो गया? इसकी व्याख्या भी लोगों ने की है।

यह कहा जाता है कि जब पृथ्वी पर मनुष्य के जीवित रह सकने योग्य साधन उपस्थित हो गये, तब परमात्मा की करनी से सृष्टि पर कुछ एक मनुष्य उत्पन्न हुए और परमात्मा ने उन मनुष्यों को अपना सर्वोत्कृष्ट ज्ञान 'वेद' के रूप में दिया। इस ज्ञान को कुछ-एक ऋषियों ने समझा और अन्य मनुष्यों को समझाया। उस समय वनस्पति और इतर जीव-जन्तु उत्पन्न हो चुके थे। ईश्वरीय ज्ञान के आश्रय मनुष्य अपने आस-पास के इतर जीव-जन्तुओं पर शासन करने लगा। जनसंख्या बहुत न्यून थी। वनस्पतियाँ और फल मूल कन्द खाने के लिए प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। वेद ज्ञान से मनुष्य फल, कन्द, मूल इत्यादि खाकर जीवित रहने लगा और सर्दी-गर्मी से बचने के लिए वस्त्र एवं मकान आदि निर्माण करने लगा।

वैदिक परम्परा यह है कि सब प्रकार की वनस्पतियाँ और जीव-जन्तुओं के उपरान्त ही मनुष्य की सृष्टि हुई और वेद ज्ञान के आश्रय तथा वेद ज्ञान के ज्ञाता ऋषियों के कहने के अनुसार वे मनुष्य निर्वाह करने लगे। ऐसा ठीक ही प्रतीत होता है कि प्रथम मानव-सृष्टि तो प्राय: अज्ञानियों की ही हुई थी और कुछ एक ऋषि लोग थे, जिन्होंने परमात्मा के वेद ज्ञान को समझा था और वे अपने साथ उत्पन्न हुए मनुष्यों को जीने का ढंग सिखाने लगे।

वर्तमान युग के वैज्ञानिक यह मानते हैं कि आदि मनुष्य इतर जीव- जन्तुओं की सन्तान ही हैं। और उनको इतर जीव जन्तुओं की भाँति अज्ञानता से निकाल ज्ञानवान् बनाने के लिये किसी प्रकार का ईश्वरीय ज्ञान नहीं मिला,वरन वे पशुवत्- मनुष्य परीक्षण और संशोधन की प्रक्रिया से वतमान युग के ज्ञानवान मनुष्य बन गये हैं।

वैदिक परम्परा इससे भिन्न है। उसके अनुसार प्रत्येक प्रकार का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणी स्वतन्त्र रूप से अर्थात् अनेकानेक प्रकार के कीड़े, मकौड़े, पक्षी, मछलियाँ, वनचर इत्यादि ऐसे ही उत्पन्न हुए जैसे कि आज मिलते हैं। प्रत्येक प्रकार का जन्तु अपने माता-पिता की भाँति ही बनता चला आया है। उनमें परिवर्तन नहीं हुआ और न ही एक प्रकार के जन्तु से दूसरी प्रकार के जन्तु का विकास हुआ। जो आज मछलियाँ हैं अर्थात् जलचर हैं, उनके पूर्वज आदि सृष्टि के समय भी जलचर ही थे।जो आज नभचर हैं, उनके पूर्वज आदि सृष्टि के समय भी नभचर ही थे। कहने का अभिप्राय यह है कि हिरण से हिरण ही बने। गधे से गधे बने, मछलियों से मछलियाँ ही बनीं और पक्षियों से पक्षी ही बने। यह ठीक है कि कई प्रकार के जन्तु कई कारणों से नि:शेष हो गए हैं। अर्थात् उनकी सन्तान नहीं रही। ऐसा भी सम्भव है कि कई नये प्रकार के प्राणी कुछ पीछे बने हों परन्तु यह सम्भव नहीं और न ही ऐसा होता देखा जाता है कि एक प्रकार के प्राणियों से दूसरे प्रकार की सन्तान उत्पन्न हो सके। संक्षेप मे वैदिक परम्परा के अनुसार असंख्य प्रकार के प्राणियों की सृष्टि हुई है। परन्तु यह देखने नें नही आता कि एक प्रकार के प्राणी से दूसरे प्रकार के प्राणी की सृष्टि हुई है।यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि कई प्रकार के जीव-जन्तु पहले थे और अब नहीं है। उनकी सन्तति विनष्ट हो चुकी है।

इस सृष्टि क्रम में एक समय भूतल पर मानव-सृष्टि भी हुई। यह नहीं माना जाता कि निम्न मानव (sub-human) थे। यदि कोई निम्न मानव जाति थी तो रही होगी, परन्तु वर्तमान मनुष्य उस जाति की सन्तान नहीं है। वर्तमान मानव के पूर्वज इसी प्रकार के थे जैसे आजकल हैं।

यह भी ठीक है कि मानव सृष्टि के समय सब मानव एक समान उन्नत नहीं थे। इनमें कुछ ही थे कि जो ईश्वरीय ज्ञान वेद को अनुभव कर समझ सके थे और फिर इसको अपने सजातीय कम उन्नत मनुष्यों को दे सके थे। उस ज्ञान को प्राप्त कर मनुष्य वेद ज्ञान को समझ उन्नत जीवन चलाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा। इस ज्ञानोपलब्धि में मानव जाति को कुछ ही वर्ष लगे और मानव जन-समूह ऋषियों के उपदेशानुसार धर्मयुक्त जीवन व्यतीत करने लगे। वैदिक परम्परा यह मानती है कि मनुष्य वर्तमान रूप में ही उत्पन्न हुआ था। मनुष्य इतर जीव-जन्तुओं की अपेक्षा स्वयं मे एक विशेष यन्त्र रखता है, जिसका नाम बुद्धि है। बुद्धि के आश्रय यह जीवन-प्रक्रिया को सुव्यवस्थित कर सकता है। आदि मनुष्य भी इस बुद्धि को अधिक नहीं तो कम-से-कम उतनी ही मात्रा में रखता था जितनी कि आज मनुष्य रखता है। इस बुद्धि के विकास में लाखों वर्ष नही लगे। ईश्वर से मिले ज्ञान के आश्रय ऋषियों ने मनुष्यों को एक ही जीवन-काल में श्रेष्ठ मनुष्य बना दिया था। मनुष्य के विषय में महाभारत में लिखा है कि आदि युग के सब मनुष्य परस्पर धर्मानुसार व्यवहार रखते थे। काम और मोह तो मानव मन के विकार हैं, परन्तु आदि मानव सृष्टि में ऋषियों की उपस्थिति के कारण और उनके दिए ज्ञान के प्रभाव में मनुष्य 'सनातन-धर्मो' के अनुसार जीवन व्यतीत करने लगे थे।

कालान्तर में, मानव जनसंख्या के बढ़ जाने के कारण, जीवन सुख-सामग्री की उपलब्धि में कठिनाई उपस्थित होने लगी और मनुष्य में मोह तथा काम प्रबल होने लगे। इनके प्रभाव में वह छीना-झपटी आरम्भ हुई, जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है। यह अव्यवस्था थी। इस अव्यवस्था में धर्मानुसार रहने की इच्छा वाले विचार करने लगे कि कैसे इस दुर्व्यवस्था का दमन किया जाये? महाभारत की कथा बताती है कि भले लोगों का नाम महाभारत के प्रवक्ता ने देवता रखा। इनकी गोष्ठी के नेता का नाम ब्रह्मा रखा और ब्रह्मा ने विचार करने के बाद एक शास्त्र की सृष्टि की, जिसको त्रिवर्ग के नाम से कहा । अर्थात् इसमें तीन बातों की उपलब्धि और उनके नियन्त्रण के विषय में वर्णन किया है। धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों की उपलब्धि और तीनों पर नियन्त्रण का उल्लेख इस त्रिवर्ग शास्त्र में आया है। इस त्रिवर्ग शास्त्र को ब्रह्मा की स्मृति कहते है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान युग की समाज-व्यवस्था आदि ब्रह्मा की त्रिवर्ग स्मृति से ही बनी है। वह त्रिवर्ग स्मृति ठीक थी अथवा गलत थी, श्रेष्ठ थी अथवा निकृष्ट थी, आजकल के युग में चल सकती है अथवा नहीं चल सकती; यह यहाँ विचारणीय विषय नहीं है। समझने की बात यह है कि मानव समाज जबसे काम और मोह के वश में हुआ है तब से ही इसको नियन्त्रण में रखने के लिए शास्त्र अथवा धर्म-व्यवस्था की आवश्यकता रही है। काम और मोह आज भी मनुष्य के अन्दर विद्यमान हैं, ऐसे ही जैसे कि आदि सृष्टि में थे। आदि युग में ऋषियों ने वेदोपदेश से मनुष्यों को काम और मोह को नियन्त्रित रखने का ढ़ंग बताया था; तदनन्तर ब्रह्मा और उसकी परम्परा में अन्य स्मृतिकारों ने काम और मोह को नियन्त्रण में रखने के लिये एक समाजशास्त्र का निर्माण किया था। इस पर भी मनुष्य सदा इस काम और मोह के अधीन उच्छृंखलता करने की अभिलाषा रखता रहा है और श्रेष्ठ मानव मनुष्य के काम और मोह को नियन्त्रण में रखने के लिए कई ढ़ंग प्रस्तुत करता रहा है। उन ढ़ंगों में सबसे अन्तिम प्रजातन्त्रवाद है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्तिम के अर्थ सर्वश्रेष्ठ नहीं हैं। प्रजातंत्र आधुनिक काल में न्यूनाधिक सर्वत्र प्रचलित विधान है। इसी कारण इसे अन्तिम कहा है।

: 2 :

काम और मोह

जैसा कि ऊपर लिखा है, काम और मोह मनुष्य में सदा से ही उपस्थित रहे हैं। आत्मा, मस्तिष्क और शरीर, इन तीनों के संयोग को प्राणी
कहते हैं। इन तीनों का संयोग सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर के करने से होता है। यही हमारी वैदिक परम्परा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्तिष्क के दो भाग हैं। एक को मन कहते हैं और दूसरे को बुद्धि। ये दोनों प्रकृति (matter) का एक रूप ही हैं। प्रकृति जब कार्य-जगत् में परिणत होने लगती है तो इसका प्रथम विकार अर्थात रूप महत् होता है। इस रूप का एक अणु ही मन अथवा बुद्धि कहलाते हैं। मन और बुद्धि में अन्तर है कार्यक्षेत्र का। मन संस्कार संचय करता है। दूसरे शब्दों में इसे संस्कारों अर्थात् स्मरण रही घटनाओं का संग्रहालय कह सकते हैं। बुद्धि विचार करने का यन्त्र है। ये दोनों आत्मा के साथ संयुक्त होते है और आत्मा शरीर धारण करता है तो प्राणी बन जाता है।

प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इसमें श्रेष्ठता इस कारण है कि इसमें मन और बुद्धि अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक निर्मल और सक्रिय होते हैं। मानव-मन और बुद्धि में विकास की सामर्थ्य बहुत सीमा तक रहती है। इतर जीव-जन्तुओं में मन और बुद्धि मलिन तथा विकास के अयोग्य होते हैं। यही कारण है कि जहाँ इतर जीव-जन्तु कुछ थोड़े से कामों को सीखने के उपरान्त अधिक सीख और समझ नहीं सकते, वहाँ मनुष्य मन और बुद्धि के आश्रय बहुत दूर तक शिक्षा ग्रहण कर सकता है और विचार कर सकता है। मन और बुद्धि दोनों प्रकृति के प्रथम विकार के अणु मात्र हैं। इनमें भेद इनके धर्मों के कारण है। पदार्थों के धर्मों से उनके कर्म निश्चित होते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि मन और बुद्धि के धर्म अर्थात् कर्म भिन्न-भिन्न हैं। जब बुद्धि मलिन होती है तो इसमें पाँच अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं, जो मन में प्रकट होते हैं। वे अवगुण हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार। क्योंकि ये मन में प्रकट होते हैं, इस कारण इनको मन के विकार कहते हैं। इन पाँच विकारों में काम और मोह दो मूल विकार हैं। काम और मोह मन में उत्पन्न होते हैं। बुद्धि की मलिनता से मूल विकार काम और मोह हैं। शेष तीन विकार क्रोध, लोभ और अहंकार इन मूल विकारों से उत्पन्न होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धि में मलिनता कई कारणों से उत्पन्न होती है। इन कारणों में मुख्य कारण है दूषित संस्कार, बुद्धि का प्रयोग रहित चिरकाल तक रहना और बुद्धि का अनेकानेक विषयों में रत हो जाना। बुद्धि के मलिन होने के कारणों को भगवद्गीता में बहुत भली-भाँति वर्णन किया गया है। लिखा है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरतः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।
(2-41 से 44)

अर्थात्—निश्चयात्मक बुद्धि एक ही होती है और जिस बुद्धि में निश्चयात्मक प्रवृत्ति न हो, वह बुद्धि अनेक होती हैं और अनेक दिशाओं में भागती फिरती हैं।

गीता में भगवान् कृष्ण यह भी कहते हैं कि बहुत बातों के ज्ञान में रत मनुष्य जब यह मानने लगता है कि यह संसार बहुत रसमय है, यह स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है, इसमें, जन्म लेने से पूर्व और मरने के उपरान्त कुछ नहीं रहता, इस जन्म में ही भोग-ऐश्वर्य और किये जाने वाले कर्म फल देते हैं; इसके पूर्व और अनन्तर कुछ नहीं। ऐसे भोग-ऐश्वर्य में लिप्त हो जाने वाले मनुष्यों की बुद्धि अनिश्चित हो जाती है। वह किसी एक कार्य में नहीं लग सकती। ऐसी मलिन बुद्धि से मन के विकार उत्पन्न होते हैं और सर्वप्रथम काम और मोह, तदनन्तर क्रोध, लोभ और अहंकार बन जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर गीता के वचन में लिखा है कि अनेकानेक दिशाओं में भ्रमण करने वाली बुद्धि ही ये विकार उत्पन्न करती है। संसार में भोग पदार्थ अनेक हैं और जब बुद्धि उनके पीछे भागने लगती है अर्थात् उन सबको प्राप्त करने की इच्छा करती है तब यह अनिश्चित हो जाती है और किसी उद्देश्य में स्थिर न रह सकने के कारण विकार उत्पन्न करती है।

जब बुद्धि संसार के अनेकानेक भोगों को देख उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करती है तो इसे काम कहते हैं। जब सब भोग प्राप्त नहीं हो सकते तो असन्तोष उत्पन्न होता है, जिसका परिणाम क्रोध है। जब एक अथवा अनेक भोगों को प्राप्त कर, मनुष्य प्राप्त हुए को छोडना नहीं चाहता और उसको अधिक और अधिक प्राप्त करना चाहता है, तब यह विकार लोभ कहलाता है। भोग प्राप्त हो जाने के अनन्तर उनके छूट जाने की चिन्ता को मोह कहते हैं और अन्य प्राणी उन भोगों को प्राप्त नहीं कर सकते तो मनुष्य जिसने भोग प्राप्त कर लिए हैं, एक अन्य विकार में ग्रसित हो जाता है, जिसे अहंकार कहते हैं। तनिक विस्तार से इस पूर्ण प्रक्रिया का विशलेषण करें तो वह इस प्रकार होगा।

मनुष्य इन्द्रियों से संसार के अनेकानेक पदार्थों को देखता, सुनता, सूँघता, चखता अथवा स्पर्श करता है तो वह उनके रसों का भोग करता है। इन रसों की स्मृति को मन संचय करता है और बुद्धि इन रसों के प्राप्त करने अथवा न प्राप्त करने का निर्णय करती है। बुद्धि जब संसार के अनेकानेक पदार्थों के अनेकानेक रसों मे निर्वाचन करने में असमर्थ हो जाती है और नहीं जानती कि कौन-सा रस अथवा कितने रस ग्रहण किये जायें, तब यह विभ्रम में पड़ जाती है। इस विभ्रम में पड़ी बुद्धि को मलिन बुद्धि कहते हैं। यह मलिन बुद्धि निश्चय नहीं कर सकती कि एक समय में किस रस को कितनी मात्रा में और कहाँ-कहाँ से ग्रहण करे। तब मनुष्य में काम उद्दीप्त हो उठता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मनुष्य सब प्रकार के रसो का एक साथ प्राप्त करना चाहता है अथवा अपनी सामर्थ्य से अधिक रसों का ग्रहण करना चाहता है; ऐसे मनुष्य को काम-ग्रस्त अथवा कामी कहते हैं।

संसार में पदार्थ अनेक हैं। उनके रस अनेक हैं; इस कारण कामी की कामनाएँ भी अनेक होती हैं और उन कामनाओं की पूर्ति असम्भव होती है। तब कामी पुरुष क्रोधग्रस्त हो जाता है। कभी किसी कामना की पूर्ति अति रसमय होती है तो उस कामना के स्रोत से पुरुष को मोह पैदा हो जाता है। कभी ऐसा भी होताा है कि कोई पुरुष किसी दुर्लभ रस की कामना करता है और उसको प्राप्त कर लेता है और जब वह देखता है कि अन्य कोई भी व्यक्ति उसको प्राप्त नहीं कर सकता तो उसके मन में अहंकार उत्पन्न हो जाता है। अत: मन के मूल विकार काम और काम से मोह ही हैं।

आदि सृष्टि में जिस समय अमैथुनीय सृष्टि बनी तब शरीर के साथ आत्मा, मन और बुद्धि के संयोग से इन्द्रियाँ कार्य करने लगीं अर्थात् वह अपने चारों ओर के पदार्थो को देखने, सुनने, सूँघने, चखने और स्पर्श करने लगीं। इन इन्द्रियों के रसों को मन संचित करने लगा अर्थात् उन्हें स्मरण रखने लगा। इन्द्रियों के कुछ अनुभव सुखमय थे और कुछ दु:खमय। बुद्धि ने सुखमय अनुभवे. को पुन: और पुन: प्राप्त करने की प्रेरणा देनी आरम्भ की। प्राप्त करने की सामर्थ्य मनुष्य में सीमित थी; इस कारण सब रसमय पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा अर्थात् कामना पूर्ण नही हो सकी और मनुष्य काम-ग्रसित हो गया। जहाँ जिस किसी को कोई रसमय पदार्थ प्राप्त हो गया, वहाँ वह पुरुष उससे मोह करने लगा। यह है काम और मोह की उत्पत्ति।

जब कामनाओं की प्राप्ति नहीं हुई अथवा प्राप्त कामना छिनने लगी तो क्रोध की उत्पत्ति हो गयी।

वैदिक परम्परा यह है कि सृष्टि के आरम्भ में ही ऋषियों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पत्ति भी हुई थी। ये ऋषि परमात्मा के वेद ज्ञान को समझ कर काम और क्रोध से भटक रही मानव-सृष्टि को समझाने और सन्मार्ग दिखाने लगे। उस समय जनसंख्या कम थी। रसमय पदार्थों का बाहुल्य था और रसमय पदार्थों के अति सेवन से होने वाले दुष्परिणामों को बताने वाले ऋषि उपस्थित थे। परिणाम यह हुआ कि आदि सृष्टि में मनुष्य परस्पर धर्मयुक्त व्यवहार रखते थे। मनुष्यों को धर्म का ज्ञान अर्थात् कौन-सा पदार्थ कितना चाहिये और कौन-सा व्यवहार कब करना चाहिये, ऋषियों से मिला और वे सुखपूर्वक रहने लगे।

समय व्यतीत होने के साथ-साथ जन-संख्या बढ़ी। रसमय पदार्थों में कमी आयी और ऋषि नहीं रहे। वेद ज्ञान तो रहा, परन्तु वेद ज्ञान को प्रभावी ढंग से बताने वाले नहीं थे। तब कामनाओं की पूर्ति में कमी होने लगी और कामनाओं में मोह बढ़ने लगा।

एक-एक रसमय पदार्थ के लिए अनेक प्रत्याशी होने लगे। परिणाम यह हुआ कि छीना-झपटी आरम्भ हुई।

इस समय देवताओं के सम्मेलन ने अपना त्रिवर्ग शास्त्र बनाया। उस शास्त्र में धर्म अर्थात् उचित को प्राप्त करने का उचित उपाय और काम अर्थात् प्राप्त वस्तु के भोग करने के ढग बताया गया।

वैदिक परम्परा के अनुसार इन तीनों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के अतिरिक्त एक चौथी बात का भी विधान है। यह है मोक्ष प्राप्ति। परन्तु मोक्ष का विषय त्रिवर्ग से बाहर रखा गया। त्रिवर्ग शास्त्र में इस संसार में सुखपूर्वक रहने के विषय पर लिखा मिलता है। मोक्ष-प्राप्ति का विषय पृथक् है। इसके लिए पृथक् ग्रन्थ है। इसके ज्ञान को अध्यात्म कहते हैं।

ब्रह्मा के त्रिवर्ग शास्त्र को बने बहुत काल व्यतीत हो चुका है। वैदिक परम्परा के अनुसार इसे बने हुए **43,20,000** वर्ष से कुछ कम हुए हैं। मानव-सृष्टि को उत्पन्न हुए **43,20,000** वर्ष माने जाते हैं। कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल तक तो मनुष्य धर्मानुकूल व्यवहार करते रहे; तदनन्तर लूट-खसूट मची और उस समय भले लोगों ने दुखी होकर त्रिवर्ग स्मृति-शास्त्र की रचना की। मनुष्य के उत्पन्न होने और इस शास्त्र के रचे जाने तक व्यतीत काल में कितने वर्ष निकल गये होंगे; इस समय बताना कठिन है। यह काल कई सहस्त्र वर्ष से लेकर कई लाख वर्ष तक भी हो सकता है। त्रिवर्ग शास्त्र की केन्द्रीय धूरि वर्णाश्रम धर्म है।

त्रिवर्ग शास्त्र के उपरान्त परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ समृति शास्त्र में दो प्रकार के परिवर्तन हुए। एक तो स्मृति शास्त्र संकुचित होने लगा। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य की स्मरण शक्ति में और बुद्धि में ह्रास होने लगा था। मनुष्य बहुत बड़े शास्त्र को समझ अथवा स्मरण नहीं कर सकता था; इस कारण शास्त्र को संक्षिप्त किया गया। साथ ही समाज की परिस्थितियों के कारण कई बातों में परिवर्तन किया गया। परिणामस्वरूप ब्रह्मा से लेकर आज तक कई स्मृतियाँ बनी हैं और इस समय भारत में इण्डियन पीनल कोड (Indian penal code) इण्डियन क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (Indian criminal procedure code) इण्डियन सिविल कोड (Indian civil code) और इण्डियन कॉंस्टिचूशन (Indian constitution) स्मृति शास्त्र हैं। ये चारों ग्रन्थ मिलाकर एक पर्याप्त बड़ा ग्रन्थ बन जाता है। इस पर भी यह समाज की पूर्ण व्यवस्था का विधान नहीं कर सकता। मनुष्य की बहुत-सी बातें हैं जो इनसे बाहर रह जाती हैं।

भारतवर्ष में ये चारों स्मृति शास्त्र प्रचलित हैं। यह संविधान प्रजातन्त्रात्मक संविधान माना जाता है। परन्तु इसके आधारभूत सिद्धान्त वैदिक वर्ण-व्यवस्था से भिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 3 :

वर्तमान प्रजातन्त्रवाद

पूर्व कण्डिका में हमने यह बताया है कि मनुष्य के नैसर्गिक काम और मोह को नियन्त्रित रखने के लिए धर्म शास्त्र की व्यवस्था की गयी थी, परन्तु केवल मात्र व्यवस्था कर देने से कार्य नहीं चल सका। काम और मोह के वशीभूत मनुष्य किसी के कहने मात्र से अथवा व्यवस्था देने मात्र से आचरण धर्मानुकूल नहीं रख सका। काम और मोह जिनकी बुद्धि पर छा जाते है, उनको स्वार्थवश अन्य सब बातें भूल जाती हैं।

धर्म शास्त्र (त्रिवर्ग) की व्यवस्था के पूर्व वेदों मे केवल मात्र प्रेरणात्मक उपदेश थे। सुख-साधन सुगमता से उपलब्ध होने के कारण काम और मोह की तृप्ति सहज होती थी, परन्तु जब सुख-साधनों में कमी हुई और जनसंख्या बढ़ी तो काम और मोह की तृप्ति के लिए परिश्रम करना पड़ा और बलशाली तथा परिश्रम करने से संकोच करने वाले छीना-झपटी करने लगे और तब धर्म शास्त्र का निर्माण किया गया। साथ ही इस धर्म शास्त्र को लागू करने के लिए एक राज्य-व्यवस्था की कल्पाना की गयी।

धर्म-व्यवस्था तो केवल यह बताती थी कि किसका क्या और कितना अधिकार है, जिसका वह उपयोग कर सकता है। परन्तु इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए राज्य का निर्माण हुआ। राज्य में राजा की कल्पना की गयी।

समय पाकर राजा शक्ति सम्पन्न होने लगे और तब वे स्वयं काम और मोह के अधीन अपने अधिकार से अधिक उपभोग करने लगे। राजा लोग शक्ति-संग्रह करने के लिए दूसरों से सहायता लेने लगे और इस सहायता के अनुरूप सहायकों को विशेष सुविधाएँ देने लगे। जहाँ पहले अधर्म से सुख-साधन बटोरने वाले को नियन्त्रण में रखने के लिए धर्म-व्यवस्था बनी थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और धर्म-व्यवस्था को चालू रखने के लिए राज्य और राजा बने, वहाँ अब राजा पर नियन्त्रण रखने के लिए उपाय विचार किये जाने लगे। इसकी कई कथाएँ महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में लिखी मिलती हैं।

एक कथा है कि धर्म-व्यवस्था (त्रिवर्ग) के कथन के उपरान्त समस्या यह उत्पन्न हुई कि उस धर्म-व्यवस्था को चालू कौन करे। यह निश्चय हुआ कि एक, जो मनुष्यों में सबसे श्रेष्ठ पुरुष हो, उसको राजा बनाया जाए और वह धर्म-व्यवस्था का चलन करे। एक विरजा नाम के व्यक्ति को राजा बनने के लिए कहा गया। उसने इनकार कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय राजा का कार्य कुछ अधिक प्रलोभन युक्त नहीं माना जाता था। विरजा के एक अति विद्वान् पुत्र था। नाम कीर्तिमान था। उसको भी राज्य-पंद स्वीकार करने के लिए कहा गया, परन्तु वह भी नहीं माना और कथा यह बताती है कि कीर्तिमान के पुत्र कर्दम ने भी राजा बनना स्वीकार नहीं किया। यह त्रिवर्ग शास्त्र लागू नहीं हो सका जब तक कर्दम के पुत्र अनंग ने प्रजा-पालन का उत्तरदायित्व नहीं लिया। अर्थात् अनंग प्रथम राजा हुआ जो दंड-नीति में निपुण होकर राज्य कार्य करने लगा। दण्ड-नीति त्रिवर्ग शास्त्र का वह भाग है जिसमें राजा के कर्तव्य लिखे हुए थे।

अनंग का राज्य तो चला, परन्तु अनंग का पुत्र अतिबल सुख-भोगों में पड गया और इसका पुत्र वेन तो न केवल सुख भोग करता रहा, वरन् अपने अधिकार से देव-जनों को कष्ट भी देने लगा। इसके अत्याचार को देखकर तत्कालीन ऋषि एकत्रित हुए और उनहोनें मंत्र पूत कुशों द्वारा (मन्त्रपूते :कुशैर्जध्नुऋषयो ब्रह्मवादिन:) वेन को मार डाला। उसका अभिप्राय यह है कि मन्त्र अर्थात् शुभ सम्मति देकर कुशों अर्थात् प्रजा-जनों को प्रेरणा देकर प्रजा से वेन राजा की हत्या करवा दी। वेन कई पुत्र थे। उनमें से पृथु को ऋषियों ने राजा बनने के लिए निर्वाचित किया और कुछ शर्तों पर उसे राज्य गद्दी पर बिठा दिया गया। शर्तों में मुख्य-मुख्य यह थीं:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक थी—

नियतो यत्र धर्मो वै तमशंक: समाचर ।।

(महा भा0 शा0—59-103)

अर्थात्—जिससे नियत धर्म की सिद्धि हो उसको निर्भय होकर करना। नियत धर्म कहलाते हैं।

दूसरी शर्त थी—

प्रियाप्रिये परित्यज्य सम: सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरत: ।।

(महा भा0 शा0—59-104)

अर्थात्—प्रिय और अप्रिय का विचार छोडकर अभिप्राय यह कि अपने और पराये का विचार न करके काम, क्रोध, लोभ, मोह और मान को दूर हटाकर, सब प्राणियों में समभाव रखना। एक और शर्त थी। वह इस प्रकार है—

यश्च धर्मात् प्रविचलेल्लोके कश्चन मानव:।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता ।।

(महा भा0 शा0—59-105)

अर्थात्—लोक में जो कोई मनुष्य भी धर्म से विचलित हो, उसे परास्त कर सनातन धर्म के विचार से दण्ड देना। सनातन धर्म धृति इत्यादि दस हैं।

इस प्रकार पृथु से उक्त प्रतिज्ञाएँ कराकर अन्त में यह प्रतिज्ञा करायी—

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ।।

(महा भा0 शा0—59-106)

अर्थात्— मैं मन, वाणी और कर्म से वेद-आज्ञाका निरन्तर पालन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करूँगा।

जब पृथु ने इन सब बातों को स्वीकार किया तो इसका राज्याभिषेक कर दिया गया। पृथु ने बहुत वर्ष तक राज्य किया। ऋषियों के आदेशानुसार राज्य करने से उसने संसार की बहुत उन्नति की। प्रजा को बहुत सुख पहुँचाया और स्वयं भी कल्याण का भागी बना।

इस कथा से एक बात स्पष्ट होती है। वह यह कि प्रजा में काम और मोह के बढ़ने से अव्यवस्था उत्पन्न होती है। पूर्ण प्रजा अव्यवस्था ग्रसित नहीं होती। कुछ लोग काम और मोह में ग्रसित होकर उपद्रव मचाने लगते हैं। अत: एक धर्म शास्त्र की आवश्यकता होती है और उस शास्त्रानुसार प्रजा में व्यवस्था स्थापित करने के लिए एक राजा की आवश्यकता रहती है। परन्तु राजा प्रजा के समर्थन से जब शक्तिशाली हो जाता है तो कभी-कभी वह स्वयं अपने स्वार्थ के लिए अधर्माचरण करने लगता है। ऐसे अधर्मी राजा को सन्मार्ग दिखाने के लिए ऋषि लोग (विद्वान लोग) जन-साधारण की सहायता से उसको परास्त कर देते हैं। आवश्यकता पड़े तो मरवा भी डालते हैं और पुन: किसी ऐसे व्यक्ति को राजा बनाते हैं जो धर्म-शास्त्र के अनुसार राज्य-संचालन की प्रतिज्ञा करे।

यह प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। इसमें तत्त्व की बात यह है कि प्रजा में सदैव ऐसे लोग रहते हैं जो काम और मोह के वशीभूत हो दूसरे के अधिकार पर डाका डालते रहते हैं। ऐसे लोगों को नियन्त्रण में रखने के लिए एक धर्म-व्यवस्था की आवश्यकता होती है और उस धर्म-व्यवस्था को लागू करने के लिए किसी राजा का होना आवश्यक है। राजा उच्छृंखल भी हो सकता है। उसे नियन्त्रण में रखने के लिए विद्वान लोग व्यवस्था करते हैं। इस पूर्ण व्यवस्था को राजतन्त्र कहते हैं। समय-समय पर इस राजतन्त्र का रूप बदलता रहता है। आजकल ऊपर लिखी पूर्ण प्रक्रिया के लिए एक ढंग प्रचलित है, जिसे प्रजातन्त्र का नाम दिया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R 089, 91 43
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
GUR-P

प्रजातन्त्र का अर्थ है प्रजा के हित में प्रजा द्वारा संचालित राज्यतन्त्र। इसमे भी कई भेद हो गये हैं। प्रजातन्त्र का स्वरूप भारत में ईसवी सम्वत् सन् **1950** से प्रचलित हुआ है और उसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

भारत में रहने वाले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को जिसकी आयु इक्कीस वर्ष से ऊपर है मतदाता मान लिया गया है। अभिप्राय यह है कि ये लोग राज्य का संगठन करेंगे। पूर्ण भारत देश को भिन्न-भिन्न राज्यों में बाँटा गया है और इन राज्यों के ऊपर एक केन्द्रीय राज्य निर्माण किया गया है। प्रत्येक राज्य में भी एक विधान सभा है और केन्द्रीय राज्य के पथ-प्रदर्शन के लिए एक केन्द्रीय विधान सभा (संसद) है। सब राज्य विधान-सभायें और केन्द्रीय सभा उक्त मतदाताओं के निर्वाचित सदस्यों से निर्माण होती हैं। राज्य विधान-सभायें राज्य के अपने विषयों में व्यवस्था करती हैं और केन्द्रीय विधान सभा विभिन्न राज्यों के भीतर व्यवस्था बनाती है। कुछ क्षेत्रों में स्वत: व्यवस्था भी बनाती है।

इस व्यवस्था को संयुक्त राज्य संघ (Federal State) कहते है। इसमें राज्य हैं, राज्य विधान-सभायें हैं और इन सभाओं में समन्वय करने तथा पूर्ण देश में व्यवस्था स्थापित करने के लिए केन्द्रीय सभा (संसद) हैं।

राज्य सभाओं के अधिकार नियत हैं और केन्द्रीय सभाओं के भी नियत हैं। कुछ ऐसे अधिकार भी हैं जो राज्य और केन्द्र दोनों भोग करते हैं। प्रत्येक राज्य पर एक-एक राज्यपाल है और पूर्ण देश पर एक राष्ट्रपति है। ये लोग यह देखने के लिए नियुक्त हैं कि विधान सभायें और उनके मन्त्री नियमपूर्वक काम करते हैं अथवा नहीं। भारत के सविधान में नागरिकों के कुछ-मूलाधिकार भी हैं।

यह है स्वरूप भारत में प्रजातन्त्र का। इसका विवरण एक पुस्तक में लिखा गया है। इसका नाम भारत का संविधान है। इसमें कई सौ धारायें है और उन धाराओं के अनुसार प्रजा के संविधान सभाओं के और संसद के

Central Library
167938
Gurukula Kangri (Deemed University) Haridwar
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार निश्चय किये गये हैं। इसमें राज्यपालों और राष्ट्रपति के भी कर्तव्यों का उल्लेख है। इस संविधान का निर्माण एक सभा ने दो वर्ष के विचार-विनिमय के उपरान्त किया था। इस सभा का नाम संविधान सभा (Constituent Assembly) था। यह सभा भी एक ढ़ंग से प्रजा द्वारा निर्वाचित की गयी थी।

मूल रूप में इस संविधान का सार यह है कि पूर्ण देश के वयस्क (21 वर्ष से ऊपर के) स्त्री-पुरूष देश का शासन चलाते हैं। वे राज्य विधान सभाओं का और केन्द्रीय संसद का निर्वाचन करते हैं। विधान सभाओं और केन्द्रीय संसद के सदस्यों का बहुसंख्यक दल मन्त्री-मण्डल बनाता है जो शासन करता है।

शासन का अभिप्राय शान्ति-व्यवस्था (Law and order) और न्याय-व्यवस्था है। केन्द्रीय मन्त्री-मण्डल कुछ ऐसे विषयों का भी प्रबन्ध करता है जैसे कि विदेशों से सम्बन्ध तथा व्यापार, देश की बाहरी आक्रमण से रक्षा और ऐसे विषय, जिनका सम्बन्ध पूर्ण देश से एक समान हो। राज्यों में और केन्द्र में राज्य-व्यवस्था चलाने के लिए प्रजा पर कर लगाने के अधिकार उनको हैं। राज्य-कर और केन्द्रीय कर भिन्न-भिन्न हैं और प्रजा को दोनों कर देने पडते हैं।

प्रजातन्त्र के इस स्वरूप में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। एक यह कि पूर्ण वयस्क जनता राज्यतन्त्र के निर्माण में भाग लेती है। दूसरी यह कि देश में विशेष विचारों वाले दल बनकर निर्वाचन में भाग लेते हैं और जिस दल के सदस्य विधान सभा अथवा संसद में बहुसंख्या में आते हैं, वह दल ही मन्त्री-मण्डल बनाता है और राज्य करती है। दूसरे (विपक्षी) दल अथवा निर्दलीय सदस्य राज्य बनाने वाले दल के कार्य की विधान सभाओं, संसद अथवा सार्वजनिक रूप में आलोचना करते हैं। इस आलोचना से सत्तारूढ़ दल अपने व्यवहार को ठीक रखने का यत्न करता रहता है। तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने व्यवहार की सफाई विधान सभाओं, संसद अथवासर्वसाधारण में देता रहता है।

: 4 :

प्रजातन्त्र विदेशों में

ऊपर हमने भारत में प्रजातन्त्र के स्वरूप का विवरण दिया है। अन्य देशों में प्रजातन्त्र का स्वरूप इससे भिन्न है। उदाहरण के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका में पूर्ण शासन (administration) और सुरक्षा की व्यवस्था देश के राष्ट्रपति (president) के अधीन होती है। इस शासन में केन्द्र और राज्यों में बँटवारा किया गया है। प्रत्येक राज्य अपना-अपना हाई कोर्ट रखता है और अपने-अपने कानून बनाता है जिनसे राज्य में शासन चलता है। केन्द्रीय शासन उन विषयों में कानून बनाता है जो सब राज्यों में एक समान लागू करने उचित समझे जाते हैं। ये विषय हैं सुरक्षा, सब नागरिकों में समानता और समानाधिकार इत्यादि। राष्ट्रपति के कार्यों पर पूर्ण देश की कांग्रेस (विधान सभा) आलोचना करती है और प्रधान के कार्यों पर व्यय होने वाले धन की स्वीकृति देती है।

अमेरिका संयुक्त राज्य में एक केन्द्रीय न्यायालय भी है, जिसे 'सुप्रीम कोर्ट' भी कहते हैं। यहाँ सब राज्यों के हाई कोर्टो के निर्णयों की अपील की जा सकती है और सुप्रीम कोर्ट सम्बन्धित राज्यों के कानून की दृष्टि से और साथ ही केन्द्र की नीति का ध्यान रखकर निर्णय देता हैं।

इसी प्रकार फ्रांस इत्यादि अन्य देशों में प्रजातन्त्र का स्वरूप भारत एवं अन्य देशों से भिन्न है। इस पर भी सब प्रजातन्त्रात्मक देशों में एक मौलिक सिद्धान्त है और वह प्राय: समान रूप में सब देशों में उपस्थित है। इसी कारण प्रजातन्त्र एक वाद बन गया है। वाद उसको कहते हैं जिसमें कोई अपरिवर्तनशील एक अथवा अनेक सिद्धान्त हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब प्रजातंत्रों में मूल सिद्धान्त यह है कि देश का राज्य प्रजा की स्वीकृति से चलाया जायेगा और प्रजा को अधिकार होगा कि वह राज्य को बदल सके। प्राय: प्रजातन्त्रात्मक देशों में पाँच वर्ष के उपरान्त प्रजा से राज्य का समर्थन प्राप्त किया जाता है। सार्वजनिक निर्वाचन किये जाते हैं और प्रजा अपने प्रतिनिधि निर्वाचित कर भिन्न-भिन्न सभाओं, परिषदों, संसद इत्यादि में भेजती है। वहाँ ये सदस्य देश के संविधान अथवा प्रथानुसार अपने-अपने अधिकारों का प्रयोग कर शासन आदि की व्यवस्था करते हैं। कुछ देशों में लिखित संविधान हैं। यह संयुक्त राज्य अमेरिका में भी है, भारत में भी है और कुछ अन्य देशों मे भी है। कुछ देशों में संविधान तो है,परन्तु वह लिखित नहीं है। कुछ प्रथायें और कुछ संसद के निर्णय संविधान का अंग बन गए हैं। इंगलैण्ड में एसा ही है।

सब प्रजातन्त्रात्मक देशों में प्रजा की इच्छा सर्वोपरि मानी जाती है और प्रजा के प्रंतिनिधियों का बहुमत ही प्रजा की इच्छा समझी जाती है। वैसे तो कम्युनिस्ट देश भी अपने देश के तन्त्र को प्रजा-तन्त्रात्मक ही घोषित करते हैं, परन्तु वहाँ प्रजा की सम्मति को एकत्रित करने का ढंग दूसरा है। इन देशों में नियन्त्रण प्रजा की ओर से आरम्भ न होकर राजा की ओर से, जिसे वे लोग नेता मानते हैं, आरम्भ होता है।

सबसे पहले कम्युनिस्ट राज्य रूस में आरम्भ हुआ था। सन् 1917 में क्रान्ति में नेता लेनिन ने राज्य-पद्धति ऐसी निर्माण की, जिससे वहाँ के प्रजातन्त्र (Democracy) की इच्छा जानने का ढंग नेता द्वारा नियत किया गया। उसने अपने-आपको जनरल सेक्रेटरी आफ दि सोवियत यूनियन (General Secretary of the Soviet Union) घोषित किया और अपनी सहायता के लिए प्रमुख नेताओं की एक समिति बना ली, जिसका नाम प्रेज़िडियम (presidium) रखा। प्रेज़िडियम के प्रत्येक सदस्य को एक-एक विभाग प्रबन्ध के लिए दे दिया। पूर्ण रूस को राज्यों में विभक्त कर दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और राज्यों को जिलों में तथा ज़िलों के नीचे कस्बे और गाँव निर्माण कर दिए। जनरल सेक्रेटरी नियुक्त किए। राज्यों के सेक्रेटरी नियुक्त किए। राज्यों के सेक्रेटरियों ने जनरल सेक्रेटरी की स्वीकृति से जिलों के सेक्रेटरी नियुक्त किये। जिलों के सेक्रेटरियों ने राज्य के सेक्रेटरी की अनुमति से कस्बों और गाँवों के सेक्रेटरी नियुक्त किये। इन सब सेक्रेटरियों ने अपनी-अपनी सहायता के लिए अपने-अपने क्षेत्र में से नेताओं को इकट्ठा कर समितियाँ बना लीं। कस्बों और गाँवों की समितियों ने अपने-अपने क्षेत्र की सभायें बनायीं, जिनको 'सोवियत' कहा जाता है। इन सोवियतों में सदस्य सेक्रेटरी की अनुमति से स्वीकार किये गए। पूर्ण देश में आवश्यक सेवाओं के लिए नियुक्तियाँ इन सोवियतों की सम्मति से की जाती हैं। आवश्यक सेवाओं में पुलिस, सेना, खुफिया पुलिस, जेलखानों के दरोगा (superintendent) इत्यादि समझे जाते हैं।

इस प्रकार राज्य प्रपंच बनाकर लगभग इसी को देश का संविधान बना लिया गया। किसी गाँव में, किसी कस्बे में अथवा किसी फैक्टरी में सोवियत का निर्माण वह सेक्रेटरी ही कर सकता है जिसे ज़िला सेक्रेटरी ने नियुक्त किया हो और सोवियत में सदस्य बनने की स्वीकृति दे सकता है। किस प्रकार के नागरिक को सोवियत का सदस्य बनाया जाए, इसके लिए विधि-विधान देश की 'प्रेज़िडियम' बनाती है। यह तो बताया जा चुका है कि सोवियत का सेक्रेटरी ज़िला सेक्रेटरी से नियुक्त होता है। और राज्य सेक्रेटरी जनरल सेक्रेटरी से नियुक्त किया जाता है।

ऐसा रूस का संविधान लेनिन ने बनाया और स्टालिन के काल में चलता रहा। सन् 1948 में इसमें कुछ संशोधन किये गए और नागरिकों के अधिकार निश्चय किये गये। इन अधिकारों में एक यह बात भी निश्चय हुई कि यदि किसी नागरिक पर देशद्रोह का आरोप हो तो उसका मुकद्दमा अपराधी की अनुपस्थिति में और बिना उसको बताए भी किया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख्रुश्चेव के काल में इस संविधान में कुछ और परिवर्तन किये गये। इस पर भी मूल सिद्धान्त अभी तक यही चलता है कि जनरल सेक्रेटरी एक प्रकार का तानाशाह है। यद्यपि वह प्रेज़िडियम की स्वीकृति से जनरल सेक्रेटरी हो सकता है। अर्थात् प्रेजिडियम उसको हटा सकता है अथवा नियुक्त कर सकता है, परन्तु अपने नियुक्ति काल में वह न केवल शासन का सर्वोच्च अधिकारी है, वरन् न्यायालयों का और सोवियतों के निर्माण इत्यादि का अधिकार पूर्ण रूप से उसके पास होता है। प्रेज़िडियम ने अपने अधिकार से ख्रुश्चेव को पदच्युत किया था,परन्तु पदच्युत करने के लिए प्रस्ताव अति गुप्त रखा गया और ख्रुश्चेव को तब तक पता नहीं लगने दिया गया जब तक उसको प्रेज़िडियम के सन्मुख लाकर पुलिस और सेना के घेरे में नहीं ले लिया गया। यदि इस षड्यन्त्र का समाचार ख्रुश्चेव को समय से पूर्व मिल जाता तो वह प्रेज़िडियम को विसर्जित (dismiss) कर देता। ख्रुश्चेव के काल में बन्दीगृह और श्रम-शिविरों के नियम कुछ उदार किये गये और मृत्यु-दण्ड का प्रयोग बहुत कम कर दिया गया। ख्रुश्चेव के उपरान्त वर्तमान प्रेजिडियम में एक मौखिक समझौता हो गया प्रतीत होता है जिसके अनुसार राज्य के समस्त विभाग और जनरल सेक्रेटरी का काम प्रेज़िडियम का साँझा उत्तरदायित्व (joint responsibility) बन गया है।

यह ढाँचा भारत इत्यादि प्रजातंत्रात्मक देशों के ढाँचे से सर्वथा भिन्न है; इस पर भी यह प्रजातंत्र के भीतर ही आता है। कारण यह है कि इसमें भी प्रजा की सम्मति का प्रभाव राज्य पर पड़ता है और समय-समय पर राज्य को प्रजा से अनुमोदन प्राप्त करना पड़ता है। अन्तर केवल यह है कि मतदाता सब नहीं हो सकते। वे विचारों से निश्चय होते हैं।

अतएव प्रजातन्त्रवाद में कुछ साँझे सिद्धान्त हैं जैसा कि हमने ऊपर बताया है। प्रजा की इच्छा प्रजा के बहुमत से प्रकट होती है और इस इच्छा को जानने के लिए राज्य को एक नियत अवधि के उपरान्त प्रजा स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।

सब प्रजातन्त्रातमक देशों में प्रजा की इच्छा निर्माण करने के लिए देश के लोग दल निर्माण करते हैं। ये दल राज्य में विधि-विधान और व्यवस्था के विषय में अपना मत बनाकर जनता में प्रचारित करते हैं और फिर निर्वाचन के समय अपने-अपने घोषित सिद्धान्तों के आधार पर मत माँगते हैं जिससे वे निर्वाचित होकर विधान सभाओं अथवा संसद में जा सकें। विधान सभाओं अथवा संसद में जिस दल के सदस्यों की संख्या सर्वाधिक हो जाती है, वह अपना नेता चुनता है और नेता (प्रधानमन्त्री) अपना मन्त्री-मण्डल बनाता है। मन्त्री-मण्डल राज्य-र्काय चलाता है। विधि-विधान प्रस्तावित कर अपने दल के समर्थन से विधान सभाओं अथवा संसद में पारित करवाता है और विपक्षी दल अथवा दलों की आलोचना का उत्तर विधान सभा अथवा संसद में देता है। जब कभी विपक्षी दल अनुभव करते हैं कि मन्त्री-मण्डल का समाधान सन्तोषजनक नहीं तो वे विधान सभा अथवा संसद में प्रस्तुत विषय पर मतदान कराते हैं। इस मतदान में पूर्ण विधान सभा अथवा संसद मत देती है और बहुमत का मत पारित समझा जाता है। यदि पारित मत मन्त्री-मण्डल के विचार के विपरीत हो और मन्त्री यह समझे कि उसका मत ठीक था तो मन्त्री-मण्डल विधान सभा अथवा संसद के निर्णय को अपने पर अविश्वास मान त्याग-पत्र दे देता है। इस पर विधान सभा में अथवा संसद में कोई दल अथवा बहुत से दल मिलकर सरकार बनाना चाहें तो राज्यपाल अथवा राष्ट्रपति की अनुमति से मन्त्री-मण्डल बना सकते हैं और वह मन्त्री-मण्डल जब तक विधान सभा अथवा संसद का अपने में विश्वास रखता है, शासन करता है।

रूस का प्रजातन्त्र सामान्य प्रजातन्त्रात्मक देशों से विलक्षण है। जहाँ सामान्य प्रजातन्त्र देशों में दलों का निर्माण होता है और दल भिन्न-भिन्न आधारों पर संगठित होते हैं वहा रूस में एकदलीय शासन है। रूस में एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दल है। उस दल के जनरल सेक्रेटरी के द्वारा सोवियत के मन्त्रियों की नियुक्ति होती है और यह मन्त्री दल की विशिष्ट नीति के अनुकूल मत रखने वाले लोगों को सोवियत का सदस्य बना लेते हैं। ये सदस्य सब मिलाकर सत्ताधीश दल होता है। इस दल के विरुद्ध अथवा इससे किसी प्रकार से भिन्न मत रखने वाला दल निर्माण नहीं हो सकता। इस प्रकार रूस में एकदलीय शासन है।

रूस में निर्वाचन भी होते हैं। इन निर्वाचनों में केवल सोवियत के सदस्य ही प्रत्याशी खड़े कर सकते हैं। सोवियतों के सदस्य अपने ग्राम, कस्बों अथवा फैक्टरी की कार्य-कारिणी निर्वाचित करते हैं। इस कार्य-कारिणी के सदस्य सोवियत के सदस्यों में से ही हो सकते हैं और अन्य प्रजातंत्रात्मक देशों से भिन्न सोवियत के सदस्य देश की पूर्ण वयस्क जनसंख्या नहीं होती।

सन् **1962** में जन-गणना के अनुसार सोवियत रूस की जनसंख्या बीस करोड़ के लगभग थी और सोवियतों की जनसंख्या अस्सी लाख के लगभग थी। अभिप्राय यह कि प्रत्येक सौ रूसियों के पीछे चार व्यक्ति ही मतदाता थे जो सोवियतों की प्रतिनिधि सभा में निर्वाचित हो सकते थे। यह एक सामान्य अनुमान है कि सौ नागरिकों के पीछे वयस्कों की संख्या पचास प्रतिशत के लगभग होती है। अभिप्राय यह है कि सन् **1962** में की वयस्क संख्या लगभग दस करोड़ थी और इसमें से केवल अस्सी लाख लोग सोवियत के सदस्य थे जो सोवियत की कार्यकारिणी में निर्वाचित हो सकते थे।

एक ज़िला में सब सोवियतों की कार्यकारिणियों के सदस्य ज़िला कार्यकारिणी का निर्वाचन करते हैं। और इसी प्रकार एक राज्य में सब ज़िलों की कार्यकारिणियों के सदस्य राज्य की कार्यकारिणी का निर्वाचन करते हैं। इसी प्रकार राज्यों की कार्यकारिणी से पूर्ण देश की कार्यकारिणी का निर्वाचन होता है, जो प्रेज़िडियम का निर्वाचन करती है। इसका अर्थ यह निकला कि देश की वयस्क जनसंख्या का आठ प्रतिशत राज्यकरने वाली संस्था के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वाचन में भाग लेता है और शेष बयानवे प्रतिशत पर राज्य किया जाता है। वे राज्य में किसी प्रकार की सम्मति नहीं रखते। ये बयानवे प्रतिशत अपना कोई नया दल बनाकर भी निर्वाचन नहीं लड़ सकते। इसके अतिरिक्त गाँव. कस्बों अथवा फैक्टरियों में प्रबन्धक समितियाँ होती हैं, परन्तु प्रबन्धक समिति में प्रतिनिधि केवल सोवियत ही खड़ा कर सकता है अथवा सोवियत की अनुमति से ही खड़े हो सकते हैं। यदी कोई व्यक्ति इन प्रबन्धक समितियों में प्रत्याशी बनकर सोवियत द्वारा प्रस्तावित प्रत्याशी का विरोध करना चाहता है तो वह स्वतन्त्र रूप में ऐसा कर तो सकता है, परन्तु किसी प्रकार का दल बनाकर नहीं। साथ ही ऐसे स्वतंत्र प्रत्याशी को सोवियत के कोप का भाजन बनना पड़ता है।

इस प्रकार यद्यपि सोवियत रूस में भी निर्वाचन होते हैं और जो उन निर्वाचनों में नतदाता हैं, वे एक सीमा तक शासन पर प्रभाव तो डाल सकते हैं परन्तु उनका प्रभाव सोवियत के सिद्धान्तों के विपरीत नहीं हो सकता और सोवियत के सिद्धान्त देश की सरकार द्वारा निश्चय किये गए हैं। इन सिद्धान्तों का विरोध किसी प्रकार भी सहन नहीं किया जाता।

मूल सिद्धान्त हैं—

1 एकदलीय शासन;

2 देश की कार्यकारिणी अर्थात् मन्त्री-मण्डल में केवल सोवियतों के सदस्य ही निर्वाचित हो सकते हैं, अन्य नही;

3 देश की अर्थ-व्यवस्था राजकीय होगी। देश की पूर्ण सम्पत्ति और पूर्ण परिश्रम पर राज्य का आधिपत्य होगा। इसमें से समय-समय पर राज्य एक सीमा तक व्यक्तिगत उपभोग की स्वीकृति देता है। इस व्यक्तिगत उपभोग में से कोई व्यक्ति बचत कर कुछ संचय भी कर सकता है, परन्तु यह संचय एक सीमा से अधिक नहीं हो सकता और साथ ही इस संचित धन को अपने उत्तराधिकारी को नहीं दे सकता;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4 प्रत्येक बालक जो देश में उत्पन्न होता है वह देश की सम्पत्ति है और उसे राज्य की इच्छानुसार रहना होता है। कोई भी नागरिक बिना राज्य की स्वीकृति के देश को छोड़कर नहीं जा सकता। कुछ इने-गिने लोग लुक-छुपकर देश से बाहर जाते हैं और फिर वहीं रह जाते हैं। ऐसा वे तब ही कर सकते हैं जब किसी विदेश की सरकार उनके संरक्षण का उत्तरदायित्व ले। ऐसी अवस्था में विदेशी सरकार भगोड़े की रक्षा का उत्तरदायित्व लेने से पूर्व बीसियों बार विचार करती है कि इससे वह रूसी सरकार को किस सीमा तक रूष्ट कर देगी और वह कर सकती है अथवा नहीं;

5 देश में सरकारी दल के अतिरिक्त कोई दल नहीं बन सकता। सरकारी स्वीकृति के बिना कोई पत्र-पत्रिका प्रकाशित नहीं हो सकती। स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में वही कुछ पढाया जा सकता है, जो सरकार निश्चय करती है।

कुछ और भी मूल सिद्धान्त हैं, परन्तु ये मुख्य हैं।

इस पर भी यह कहा जा सकता है कि रूस में प्रजातन्त्रामक राज्य है। कारण यह कि प्रजातन्त्र के मूल सिद्धान्त कि राज्य प्रजा की इच्छा के अनुकूल हो, वहाँ पर भी माननीय है। यद्यपि प्रजा कौन है, इसकी संख्या कितनी है, इसके मुख और आखों पर पट्टी बँधी है अथवा स्वतन्त्र है, एक पृथक प्रश्न है।

: 5 :

प्रजातन्त्र में अराजकता

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि भूमण्डल के प्राय: देशों में प्रजा-तन्त्रात्मक पद्धति के राज्य हैं। हमने यह भी स्पष्ट किया है कि राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निर्माण जन-साधारण में उत्पन्न होने वाले काम और मोह पर नियन्त्रण रखने के लिए हुआ था। राज्य पद्धति में समय-समय पर परिवर्तन इस कारण होते रहे हैं कि राज्याधिकारी जब काम और मोह में ग्रसित हो जाते हैं तो उनको नियन्त्रण में रखने के लिए विधानों में परिवर्तन करना पड़ता हैं। दूसरे शब्दों में आदि काल की राज्य व्यवस्था में राजा उच्छृंखल हुए तो उन पर नियन्त्रण रखने के लिए विधि-विधान बनाये गए और एक प्रकार के विधि-विधानों को असफल होते देख दूसरी प्रकार के निर्माण किये गए। इस प्रकार बदलते-बदलते आज प्राय: सब देशों में न्यूनाधिक प्रजातन्त्र पद्धति को स्वीकार कर लिया गया है।

हमने यह भी बताया है कि विभिन्न देशों में प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियों में भी भेद है। इस पर भी हमने उन सबको प्रजातन्त्र ही कहा है, क्योंकि उन सबमें किसी न किसी सीमा तक प्रजा की इच्छा का राज्याधिकारियों पर प्रभाव होता है।

आज भूमण्डल के सब उन्नत अथवा पिछड़े हुए देशों में अराजकता व्याप्त है और यह अराजकता प्राय: सब देशों में दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। पूर्व इसके कि हम भारतवर्ष में तथा कुछ अन्य देशों में फैल रही अराजकता का वर्णन करें, हम अराजकता के अर्थ समझा देना चाहते हैं।

राज्य बना था जनता के काम और मोह पर नियन्त्रण रखने के लिये। इस कारण जब किसी देश में काम और मोह की वृद्धि होने लगे तो हम वहाँ पर अराजकता की वृद्धि मानते हैं। पिछली कण्डिका में हमने राज्य की स्थापना की एक कथा लिखी है कि धर्म-शास्त्र और राज्य जनता में काम और मोह को नियन्त्रण में रखने के लिये निर्माण हुए थे।

अभिप्राय यह है कि राज्य का निर्माण ही काम और मोह पर नियन्त्रण रखने के लिए था। काम के अर्थ भी हम बता चुके हैं। इसको साधारण भाषा में 'इच्छा' (desire) कहते हैं। जब किसी राज्य में, जन-जन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इच्छाएँ बढने लगें और वे इच्छाएँ अधर्माचरण के व्यवहार में वृद्धि करने वाली हों तो राज्य का मूल उद्देश्य विलीन हो जायेगा और यह कहा जा सकेगा कि अराजकता बढ़ रही है। इस समय भूमण्डल के उन्नत देशों में संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत रूस, पश्चिमी जर्मनी, जापान इत्यादि देश हैं। इन सब देशों में अराजकता असीम है। सबसे अधिक अराजकता संयुक्त राज्य अमरीका में है। पिछले दस वर्षों में राजनीतिक हत्याएँ बहुत हुई हैं। एक राष्ट्रपति ही मार डाले गये। एक अन्य राष्ट्रपति के पद के प्रत्याशी की हत्या कर दी गयी। नीग्रो जाति का एक नेता मार डाला गया। न्ययार्क में एक मुसलमान पुनः ईसाई हुआ तो उसकी हत्या कर दी गयी। स्थिति यहाँ तक बिगड़ चुकी है कि किसी भी राजनीति के पद के लिए प्रत्याशी होने वाले को अपनी रक्षा का विशेष प्रबन्ध करने पर विवश होना पड़ता है। कोई भी धनी व्यक्ति अपने को सुरक्षित नहीं पाता और उसे अपनी रक्षा के लिए अपने सोने के स्थान को यन्त्रों एवं संरक्षकों से सुरक्षित करना पड़ता है। कोई भी सुन्दर युवा लड़की किसी निर्जन स्थान पर जाने से पूर्व अपनी रक्षा के विषय में चिन्नित होती है। कोई ही सप्ताह ऐसा व्यतीत होता है, जिसमें किसी युवती के साथ बलात्कार न किया गया हो। प्रायः ऐसे उदाहरण समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं कि किसी युवती का अपहरण हुआ और कुछ दिन उपरान्त उसका मृत शव पड़ा पाया गया। निरीक्षण करने पर पता चला कि उससे बलात्कार किया गया और पीछे उसकी हत्या कर डाली गयी।

चोरी, डाकों के उदाहरण तो बहुत मिलते हैं। ऐसे उदाहरण बहुत पाये जाते हैं कि ग्राहक दुकानदार से उधार सामान खरीदता है और महीना समाप्त होने से पूर्व मकान छोडकर कहीं अन्यत्र चला जाता है। यह कहा जाता है कि प्रायः दुकानदार जो वेतनधारियों को उधार माल देते हैं और वेतन मिलने पर दाम वसूल करते हैं, भगोड़े ग्राहकों से होने वाली हानि की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ति के लिए अपने माल को दस प्रतिशत मूल्य बढ़ाकर बेचते हैं।

इसी प्रकार इस देश में नग्न नृत्य, चित्रपट पर नग्न चलचित्र थियेटरों में नग्न ड्रामे होते देखे जा रहे हैं। एक ऐसा भी समाचार है कि कैलिफोर्निया के एक स्कूल में जिसमें लड़के-लड़कियाँ इकट्ठे पढ़ते हैं, ऐसा चलचित्र दिखाया गया कि जिसमें पूर्ण सम्भोग क्रिया का प्रदर्शन था।

एक अन्य समाचार के अनुसार डीट्रायट के कालेज-होस्टल में छात्रों ने हड़ताल कर दी और यह माँग उपस्थित कर दी कि छात्रावासों में लड़के लड़कियों के इकट्ठे रहने का प्रबन्ध होना चाहिए। अधिकारी मान गये, परन्तु उन्होंने एक मंज़िल पर छात्रों के रहने का स्थान और दूसरी मंज़िल पर छात्राओं के रहने का स्थान बनाया। इस पर पुनः हड़ताल हुई और यह माँग की गयी कि छात्र-छात्राओं को एक ही मंजिल पर एक ही कमरे में रहने की स्वीकृति हो।

अमरीका में ऐसी पत्रिकाएँ तो कई निकलती हैं जिनमें नग्न चित्र और यौन-क्रियाओं के विषय में अश्लील लेख रहते हैं और ये पत्रिकाएँ खूब बिकती हैं। कुछ विद्वान लोग इनको बुरा मानते हैं, परन्तु वे विवश है। कारण यह कि राज्य के प्रतिनिधि इन कामभूत मदाताओं से चुने जाते हैं और प्रायः कांग्रेस (विधान सभा) के सदस्य आगामी चुनाव में अपना निर्वाचित होना संदिग्ध नहीं कर सकते।

प्रायः सब प्रजातंत्रात्मक देशों में न्यूनाधिक कामनाओं की वृद्धि हो रही है और वहाँ के विधायक परेशान हैं कि यदि उन्होंने विरोध किया तो उनका पुनः निर्वाचित होना असम्भव हो जायेगा। वे स्वयं मोह-ग्रसित हैं। उनको अपनी सदस्यता से मोह हो गया है।

इंग्लैंड में गर्भपात वैध हो गया है। कोई भी स्त्री यह कहकर गर्भ पात करा सकती है कि उनके पास होने वाले बच्चे के पालन-पोषण के लिए साधन नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में प्रजातंत्र अभी बाल्यावस्था में है, परन्तु अराजकता अन्य देशों से कम नहीं है। राज्यों के मन्त्री खुलेआम कहते-फिरते हैं कि भूमिहीन लोग जहाँ भूमि देखें अथवा जिस किसी के पास भी अधिक भूमि देखें, वहाँ अपना अधिकार जमा सकते हैं। ऐसे समाचार नित्य आ रहे हैं कि पकी फसल अन्य लोग काट कर ले जाते हैं और स्वामी मुख देखता रह जाता है। कोई आपत्ति करता है तो उसकी हत्या तक कर दी जाती है। कहीं कर्मचारी और मालिकों में मतभेद हुआ तो कर्मचारी मालिक को घेरा डाल देते हैं और उसे तब तक नहीं छोड़ते जब तक वह इनकी बातें मान नहीं जाता। ऐसा भी समाचार आये हैं कि बंगाल के एक मन्त्री को घेरा डाल कर साठ घण्टे तक रोके रखा गया और पुलिस व सेना उसको छुड़ा नहीं सकी। जब किसी कारखानेदार को मज़दूर घेराव में लेते हैं और मालिक पुलिस में रिपोर्ट करता है तो पुलिस को मिनिस्टर मना कर देता है कि मालिक-मज़दूर के मामले में पुलिस हस्तक्षेप न करे। एक राज्य के मन्त्री का अपहरण कर लिया गया। एक अन्य राज्य में मुख्य मन्त्री को गृह-मन्त्री से अपनी बात मनवाने के लिए भूख-हडताल करनी पड़ी। इस पर भी गृह-मन्त्री माना नहीं। एक अन्य राज्य के विभाजन के समय एक हाईकोर्ट के जज के अधीन आयोग बैठाया गया कि राज्य का बँटवारा कर दे। आयोग बँटवारा करता है, परन्तु न राज्य मानता है और न केन्द्रीय सरकार।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्राय: समस्त प्रजांतत्रात्मक देशों में अराजकता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। यदि प्रत्यक्ष रूप में देखा जाये तो रूस में सबसे कम अराजकता दिखाई देती है, परन्तु इसका कारण यह नहीं कि वहाँ काम और मोह में वृद्धि नहीं हुई। वृद्धि तो अपार हुई है, परन्तु राज्य का आतंक इतना अधिक है कि कामनाएँ मन-ही-मन में सुलगती रहती हैं और कार्य में नहीं आ सकतीं। कुछ ऐसी सम्भावना भी है कि कामनओं के अधीन वहाँ भी अराजकता है, परन्तु वहाँ के समाचार न तो एक स्थान से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे स्थान तक जा सकते हैं और न ही देश के बाहर आ सकते हैं। हमारा यह विचारित मत है कि यह सब अराजकता प्रजातंत्रात्मक पद्धति के मौलिक दोषों के कारण है। यह अनुमान इस आधार पर किया जा सकता है कि रूस में आज भी आदमी 'कनसेम्ट्रेशन कैम्पों' में बन्दी हैं। 'कनसेन्ट्रेशन कैम्पों' की जनसंख्या किसी को बतायी नहीं जाती। कोई व्यक्ति कुछ भी सरकार की अनुमति के बिना लिख अथवा बोल नहीं सकता।

यह सब अराजकता प्रजातंत्रात्मक पद्धति के मौलिक दोषों के कारण है।

: 6 :

अराजकता के कारण-1

हमने ऊपर यह बताया है कि प्राय: सब ऐसे देशों में जहाँ प्रजातंत्रात्मक पद्धति प्रचलित है, अराजकता विद्यमान है। यह अराजकता प्रजातंत्रात्मक पद्धति के स्तर के साथ-साथ अधिक और कम दिखायी देती है।

इस स्थान पर हम यह बताना चाहते हैं कि प्रजातंत्रात्मक पद्धति में कौन सी बात है जिससे अराजकता उत्पन्न होती है। यह बात प्रजातंत्रात्मक पद्धति के स्वरूप का अध्ययन करने से प्रकट हो जायेगी।

इसकी मुख्य बातें जो अराजकता के कारण हैं, इस प्रकार हैं—

1 प्रजातंत्रात्मक पद्धति में सर्वप्रचलित सिद्धान्त है कि प्रजा से निर्माण किया हुआ राज्य। प्रजा में सब लोग समान नहीं हैं। सब लोग न तो एक समान बुद्धि रखते हैं और न ही एक समान अनुभव। शिक्षा में भी वे सब समान नहीं होते।

...न का ही उदाहरण लिया जा सकता है। इस देश की जनसंख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन् 1961 में पैंतालीस करोड़ के लगभग थी और मतदाताओं की संख्या उन्नीस करोड़ से कुछ ऊपर थी। सन् 1961 की जनसंख्या में शिक्षित व्यक्ति पन्द्रह प्रतिशत के लगभग थे। इन शिक्षितों में अधिकांश केवल लिखना-पढ़ना ही जानते थे। यदि ऐसे लोगों का विचार किया जाये जो राज्य-कार्य को समझते भी हैं तो उनकी संख्या एक प्रतिशत से अधिक नहीं रह जाती और यदि इस बात का विचार किया जाये कि देश में कितने लोग हैं, जो देश के विभिन्न राजनीतिक दलों के भ्रान्त प्रचार में से वास्तविक देश-हित की बात को समझ सकते हैं तो उनकी संख्या हज़ार में एक भी नहीं रह जाती। अभिप्राय यह है कि उन्नीस करोड़ मतदाताओं में से पन्द्रह प्रतिशत के हिसाब से शिक्षितों की संख्या अट्ठाईस लाख के लगभग बन जाती है और इनमें कुछ सूझ-बूझ रखने वाले शिक्षितों की गणना की जाये तो एक प्रतिशत के हिसाब से वह उन्नीस लाख के लगभग होती है और यदि उन लोगों की गणना की जाये जो निर्वाचन के दिनों में भ्रांत प्रचार से सत्य और झूठ का निर्णय कर सकें तथा देश की अवस्था को जान उसके हित-अहित के विषय में निर्णय कर सकें तो हज़ार में एक के हिसाब से उन्नीस हज़ार रह जाती है। ये आँकड़े बहुत ही उदारता से स्वीकार किये गए हैं। वास्तव में देखा जाये तो सूझ-बूझ रखने वाले मतदाता भारत में कुछ सौ ही होंगे।

परन्तु मताधिकार उन्नीस करोड़ को है। जिस प्रकार के विधायक एवं संसद सदस्य इन्होंने चुने होंगे, वे किस प्रकार के राज्य के विषम कार्य को करने के योग्य माने जा सकते हैं? वे योग्य नहीं हो सकते थे। इसी कारण जो सन् 1961 में संसद सदस्य और विधायक निर्वाचित हुए, वे सर्वथा अयोग्य थे। उन्होंने क्या किया, यह सन् 1962 से लेकर सन् 1967 के इतिहास से जाना जा सकता है। इस काल में दो प्रमुख घटनाएँ हुई। एक चीन का आक्रमण, दूसरा पाकिस्तान का आक्रमण। इन दो विशिष्ट राजनीतिक घटनाओं के अतिरिक्त ताशकन्द का समझौता, चीन के आक्रमण के उपरान्त देश के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधानमन्त्री की बौखलाहट और उस बौखलाहट को छुपाने के लिए भुवनेश्वर में समाजवाद का प्रस्ताव उल्लेखनीय है।

यह नहीं कि सन् 1961 से पहले और 1967 के उपरान्त स्थिति अच्छी थी। रोग वही था और परिणाम भी वही था।

चीन ने आक्रमण एकाएक नहीं कर दिया। उससे पूर्व चीन के आक्रान्त कार्य सन् 1951-52 से प्रकट हो रहे थे। चीन ने तिब्बत पर अधिकार जमा लिया था; तदुपरान्त सन् 1956 में भारत क्षेत्र में अपनी सडक बना ली। इसके उपरान्त उस सड़क की रक्षा के लिए लद्दाख में भारत-सीमा के अन्दर कई सैनिक चौकियाँ बनायीं और अपने सैनिक भेज कर क्षेत्रों में गश्त लगवा दी। जब भारत के सैनिक अपने ही क्षेत्र की रक्षा के लिए अपने ही क्षेत्र में सैनिक चौकियाँ बना रहे थे तो उनको मार-पीट कर भगा दिया गया। भारत सरकार चीन से लिखा-पढ़ी करती रही, परन्तु सीमा-क्षेत्र को सुरक्षित करने के उपाय नहीं किये गये। देश के भीतर से सीमा तक सड़कें नहीं बन सकीं और कदाचित् इनके बनाने की योजना भी नहीं थी। अब तो यह बात भी स्पष्ट हो गयी है कि सैनिक अधिकारी तब से ही चीख-पुकार कर रहे थे जब चीन ने तिब्बत पर अधिकार जमाया था, परन्तु भारत की जनता के प्रिय नेता और निरन्तर निर्वाचित होने वाले प्रधानमन्त्री सैनिकों की माँग को रद्द करते रहे और देश की सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं किया। यह भी नहीं कि देश पर कर कम किये जा रहे थे, जिससे सुरक्षा के लिए धन न रहे। वास्तविकता यह है कि प्रति वर्ष करों में वृद्धि होती रही। राज्य की आय निरन्तर बढ़ती गयी, परन्तु जनता के प्रतिनिधि देश की सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सके। उस समय कुछ ऐसी बात भी नहीं थी कि दाम देकर विदेशों से बढ़िया शस्त्रास्त्र न मिल सकते हों। तब किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था, वरन् एक बार तो अमेरिका ने कुछ साधारण-सी शर्तों पर सीमाओं की रक्षा के लिए बढ़िया-से-बढ़िया शस्त्रास्त्र बिना मूल्य देने का प्रस्ताव किया था। भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार ने यह प्रस्ताव स्वीकर नहीं किया और न ही कर-वृद्धि से अपनी आय बढ़ाकर शस्त्रास्त्र मोल लिए और जब सन् 1962 में चीनियों ने आक्रमण किया तो भगदड़ मच गयी। सहस्त्रों सैनिक मारे गये। एक विस्तृत क्षेत्र पर चीनियों ने अधिकार कर लिया और साथ ही हिमालय की दुरूह घाटियों को पार कर चीनी भारत की ओर आ गये। एक समय तो यह स्थिति उत्पन्न हो गयी कि आसाम खाली किया जाने लगा। एकाएक चीनियों ने आक्रमण रोक दिया। बहुत-सा क्षेत्र चीनियों ने अपने अधिकार में ही रहने दिया। वह क्षेत्र जिसको वे अपने अधिकार में नहीं रख सकते थे, वापस कर दिया।

यह आक्रमण चीनियों ने स्वत: क्यों रोका और कुछ क्षेत्र को क्यों वापस कर दिया, एक पृथक् विषय है। इसका देश की अराजकता के साथ सम्बन्ध नहीं है। देश की अराजकता का सम्बन्ध तो इस बात के साथ है कि सन् 1951 से लेकर सन् 1962 तक चीनियों की आक्रान्त प्रवृत्ति का ज्ञान होने पर भी और सैनिक अधिकारियों के सचेत और सतर्क करने पर भी भारत सरकार ने कुछ नहीं किया। करों से प्राप्त धन, अधिकारी और उनको मत देने वालों की वृद्धि में प्रयोग होता रहा।

अराजकता का सम्बन्ध इस बात से भी है कि युद्ध के उपरान्त देश ने और देश के प्रतिनिधि संसद सदस्यों ने उन हीं अधिकारियों को सत्तारूढ़ रहने दिया, जो देश की रक्षा करने में अयोग्य सिद्ध हुए थे। जब आक्रमण हो रहा था तो विदेशों से सहायता माँगी गयी। भूमण्डल के सब देशों में से इगलैंड और अमेरिका ने सहायता देने का वचन ही नहीं दिया, वरंन् हवाई जहाज़ों से शस्त्रास्त्र भेजने भी आरम्भ कर दिए। इस पर भी युद्ध समाप्ति पर राज्याधिकारी इन दोनों देशों के शत्रु बने रहे तथा चीन और रूस, जिन्होंने आक्रमण में हमारी सहायता नहीं की, मित्र रहे और प्रशंसा के पात्र बने रहे।

सन् 1965 में दूसरा आक्रमण हुआ। यह पाकिस्तान ने किया था। भारतीय सेना के पास हवाई जहाज़ और अन्य शस्त्रास्त्र घटिया थे। इस पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी सैनिकों ने अतुल शौर्य और वीरता का प्रमाण दिया और आक्रमण को रोके रखा। जब संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान सचिव ने युद्ध-बन्दी के लिए कहा तो भारत सरकार ने सुख की साँस ली।

सन् 1962 की चीन से पराजय के उपरान्त भारत सरकार ने अपने मुख पर से कालख धोने के लिए समाजवाद का नारा लगा दिया। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि समाजवाद अच्छा है अथवा बुरा है। इसके विषय में कुछ आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हमारा अभिप्राय यह है कि देश की अनपढ़, अयोग्य और कर्महीन जनता को प्रसन्न करने के लिए सन् 1964 में भुवनेश्वर में कांग्रेस ने पूर्ण समाजवाद का संकल्प घोषित कर दिया। इससे पूर्व पूर्ण समाजवाद के लिए आग्रह नहीं था। जो कुछ किया जा रहा था, वह लोक कल्याण का कार्य था और उसी को समाजवाद का नाम दिया जा रहा था, परन्तु सन् 1964 में पूर्ण समाजवाद लाने की घोषणा इसी कारण की गयी कि ना समझ मतदाताओं से कांग्रेस के पक्ष में मत लियें जा सकें।

इस पूर्ण विवरण को देने का हमारा अभिप्राय यह है कि राज्य की विषम समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रजातन्त्रात्मक पद्धति में योग्य प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं हो सकते और यही हुआ। सन् 1962, 1965 में दो विशिष्ट घटनाओं में अपने को अयोग्य सिद्ध करने वाला दल (कांग्रेस) सन् 1967 में पुन: सत्तारूढ़ हो गया। यह ठीक है कि संसद में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या में कुछ कमी हुई, परन्तु इससे यह प्रकट नहीं होता कि जनता कुछ अधिक बुद्धिमान हो गयी थी। संसद के सदस्यों में यदि जनसंघ के कुछ सदस्य अधिक हुए तो कम्युनिस्टों की संख्या में उनसे भी अधिक वृद्धि हुई। कम्युनिस्ट वे हैं जो चीन के समर्थक हैं। उनमें से अधिकांश चीन के आक्रमण को न्यायसंगत समझते हैं और प्राय: सब-के-सब चीन के आक्रमण बन्द कर देने को उचित नहीं समझते। देश की जनता ने कांग्रेस को अयोग्य समझ उसे कम मत दिये, परन्तु देश के शत्रुओं को मत दे दिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि देश का हित-अहित जनमत से सुरक्षित नहीं हो सकता। जैसा कि हमने ऊपर बताया है, सन् 1961 के उन्नीस करोड़ मतदाताओं में ऐसे लोग जो देश की आवश्यकताओं को समझते हैं और उचित, योग्य एवं ईमानदार प्रतिनिधि चुनने की बुद्धि रखते हैं, उनकी संख्या नगण्य थी।

2 भारत की वर्तमान अराजकता इस कारण ही है कि यहाँ प्रजातन्त्रात्मक पद्धति से सरकार बनती है। देश की पूर्ण वयस्क जनता को बिना किसी के गुण दोष देखे और बिना उसकी योग्यता का अनुमान लगाये, संसद सदस्य चुनने का अधिकार प्राप्त है। ये लोग किस प्रकार प्रतिनिधि चुनते हैं, इसका अनुमान निर्वाचनों में होने वाले प्रचार से पता चलता है। देश में कई दल हैं। वे दल अपनी नीतियों को घोषित करते हैं और नीतियों की घोषणा के समय वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि ऐसी नीतियाँ होनी चाहियें, जो जन-साधारण को अर्थात् मूर्ख और गँवार लोगों को फँसा सकें। सब दल जानते हैं कि धनी आदमियों के धन और सम्पत्ति को निर्धनों में बाँट देना एक बडा भारी प्रलोभन है। धनियों की संख्या कम है, बुद्धिमान उनसे भी कम हैं और विद्वानों की संख्या में मत अशिक्षित, अनभिज्ञ और अयोग्यों का है। इस कारण इन अशिक्षितों, अनभिज्ञों और अयोग्यों को धन दिलाने का प्रलोभन दे दिया जाय तो मत मिल सकते हैं। प्राय: यही बात सब दल वाले कर रहे हैं। कोई नहीं कहता कि परिश्रम करने वाले को पारिश्रमिक मिलेगा और वह पारिश्रमिक परिश्रम, बुद्धि और कुशलता के अनुपात में होगा। प्राय: दल यह कहते हैं कि जो देश में एक बार पैदा हो गया तो उसका अधिकार बन गया कि उसके लिए कपड़ा, भोजन, मकान दिया जाये। भले ही वह किसी प्रकार से भी देश में परिश्रम करने के योग्य न हो और परिश्रम करने की इच्छा न रखता हो। निर्वाचनों में खुले आम यह कहा जाता है कि भूमिहीनों को भूमि देंगे, नंगो को कपड़ा देंगें और भूखों को अन्न देंगे। किन्तु कोई भला व्यक्ति यह नहीं कहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उनका दल जनता को खून और पसीना एक कर देश की सेवा करने के लिए कहेगा। हमारे कहने का यह अर्थ नहीं है कि यदि ये दल सत्तारूढ़ हो जायेंगे तो वास्तव में जनता को वह सब-कुछ जिसका वह वचन दे रहे हैं, दिलवायेंगे अथवा नहीं दिलवायेंगे। हम तो यह कह रहे हैं, कि इस प्रजातन्त्रात्मक पद्धति में निर्वाचन वह जीतता है, जो सर्वसाधारण में कामनाएँ उत्पन्न करता है और उन कामनाओं की पूर्ति का विश्वास दिलाता है। यही अराजकता का बीज है।

देश के सब वयस्क लोगों को ऐसे प्रतिनिधि चुनने के लिए कहना जो देश की प्रत्येक की आवश्यकता में मत दे सकें, एक प्रकार से ऊँट पर केसर लादने की बात है। जैसे ऊँट की पीठ पर केसर लाद दिया जाये तो वह उस बोझे का मूल्यांकन नहीं कर सकता जो वह उठाये हुए है, इसी प्रकार एक सामान्य नागरिक अपने मत का मूल्य नहीं जानता। उसको इस बात का पता नहीं कि उसके मत से चुना हुआ व्यक्ति संसद में जाकर वह अनर्थ कर सकता है कि जिसका न केवल उस पर, वरन् आने वाली अनेक पीढ़ियों पर भी प्रभाव पड़ सकता है! वर्तमान प्रजातन्त्र में एक विश्वविद्यालय के पी-एच0 डी0 का उतना ही बड़ा मत है, जितना कि उसके जूते गाँठने वाले का होता है। यही प्रजातन्त्र की विडम्बना है।

मतदाता जब बुद्धिमान, ज्ञानवान् और धर्मात्मा नहीं होते तब वे अपना मत समाघोषों (slogans) से प्रभावित होकर देते हैं, परन्तु एक सामान्य बुद्धि रखने वाले व्यक्ति के लिए समाघोषों से अधिक अन्य कई प्रलोभन उपस्थित होते हैं और दलों के सदस्य उन सब प्रलोभनों का यथा सम्भव प्रयोग करते हैं। प्रत्याशी निर्वाचनों में धन का, निर्वाचित होने पर राज्य की कृपा का और मत देने के लिए नाच-रंग, सुरा-सुन्दरी आदि का भी आकर्षण प्रस्तुत करते हैं। बड़े-बड़े जलूस निकाले जाते हैं, बाजे और गाजे के साथ प्रचार किया जाता है और फिर इच्छा रखने वालों मे रुपया भी बाँटा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। ये सब बातें केवल भारत में ही नहीं होतीं, वरन् अन्य प्रजातंत्रात्मक देशों में भी की जा रही हैं। अमेरिका में भी प्रधान पद के निर्वाचन के लिए बैण्ड-बाजे बजाये जाते हैं, गुब्बारे छोड़े जाते हैं, झण्डियाँ और फानूस लगाये जाते हैं और लाखों रुपयों की होली खेली जाती है।

प्राचीन भारतवर्ष में भी गणतन्त्र राज्य थे, परन्तु इनमें कोई भी अधिक काल तक जीवित नहीं रह सका। महाभारत में गणतन्त्र राज्यों के गुण-दोषों का वर्णन किया गया है। महर्षि व्यास गणतन्त्र राज्यों के गुण-दोष वर्णन करते हुए अन्त में लिखते हैं—

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा॥
न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः।
भेदाच्चैव प्रदानच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः॥

(महा भा० शा० 107-30,31)

जाति और कुल में सभी एक समान हो सकते हैं, परन्तु उद्योग, बुद्धि, रूप और सम्पत्ति में सबका एक-सा होना सम्भव नहीं है। शत्रु लोग गणराज्य के सदस्यों में भेद-बुद्धि उत्पन्न करके तथा उनमें से कुछ लोगों को धन देकर समूचे संघ में फूट डाल सकते हैं।

इससे भी यही प्रकट होता है कि सब लोग न तो समान परिश्रम कर सकते हैं और न ही समान बुद्धि रखते हैं। रूप और तेज भी सबका समान नहीं होता। यह सिद्धान्त यदि मतदाताओं के ऊपर लागू किया जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि समान बुद्धि न रखने से मत भी एक समान नहीं रख सकते और क्योंकि हीन बुद्धि वालों की संख्या अधिक होती है, अतः निर्वाचित सदस्य प्रायः हीन बुद्धि ही होंगे। यदि महर्षि व्यास जी का उक्त सिद्धान्त संसद अथवा विधान सभाओं के सदस्यों पर लागू किया जाये तो यह सिद्ध है कि सब सदस्य समान बुद्धि न रखने के कारण शत्रु द्वारा फूट डलवाने में सहायक हो रहे है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3 यह हमने ऊपर बताया है कि जन-साधारण से मत प्राप्त करने के लिए चतुर लोग कई प्रकार के प्रलोभन उपस्थित करते हैं। सामयिक खेल तमाशे और सुख-भोग की सामग्री तो उपस्थित की ही जाती है, साथ ही ऐसे समाघोष उद्घोषित किये जाते हैं, जिनसे जनता को असीम सुख-प्राप्ति की आशायें बन जाती हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि संसद अथवा विधान सभाओं के सदस्य उन आशाओं की पूर्ति के लिए विवश किये जाते हैं। यदि वे आशायें पूर्ण करनी असम्भव हों तो जनता में असन्तोष उत्पन्न होने लगता है। सामान्य लोग तो यह समझ नहीं सकते कि जिन बातों की आशायें निर्वाचन के समय सदस्यों ने दिलाई थीं, वह केवल मृगतृष्णा थी और जनता को निर्वाचनों के समय धोखा दिया गया था और साथ ही यह कि सामान्य जनता यह नहीं जानती कि यदि उन आशाओं की पूर्ति की जायेगी तो देश को अपार हानि होगी। इस कारण वह निर्वाचन के समय की गयी प्रतिज्ञाओं की पूर्ति का आग्रह करती है। संसद अथवा विधान सभाओं के सदस्य उन प्रतिज्ञाओं को पूर्ण कर नहीं सकते। प्राय: वे प्रतिज्ञायें पूर्ण होने पर किसी ऐसे समुदाय को अथवा पूर्ण देश को हानि पहुँचाने वाली होती हैं, जिनसे मत प्राप्ति का लोभ सदस्य छोड़ नहीं सकते। तब जनता में रोष उत्पन्न होता है, बलवे होते हैं, अग्निकाण्ड होते हैं, घेराव होते हैं और हत्यायें भी होती हैं।

यह स्थिति भारत देश में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। देश के प्राय: सब शैक्षणिक संस्थानों में विद्यार्थियों के उपद्रव यही प्रकट करते हैं। कारखानों में आये-दिन हड़तालों का भी यही अर्थ है। देहातों में निर्धन किसान असन्तुष्ट हैं और किंचिन्मात्र प्रोत्साहन पाने पर बड़े किसानों की फसलें काट कर घर ले जाते हैं। पढ़े-लिखे युवकों में नौकरी न मिलने के कारण असन्तोष इतना बढ़ गया है कि वे बेकार घूमते हुए जब भी कहीं कुछ भी लूट-पीट अथवा दूसरों को हानि पहुँचाने का अवसर देखते हैं तो उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मिलित हो जाते हैं। छात्रों को और उनके माता-पिताओं को यह आशा दिलायी जाती है कि पढ़ने-लिखने से उनकी आर्थिक स्थिति उन्नत हो जायेगी और होता यह है कि लाखों छात्र प्रति वर्ष शिक्षा समाप्त कर बेकार घूमते हैं और वर्षों तक कार्य न पा सकने के कारण अधीर हो जाते हैं। तदनन्तर वे ऐसे प्रत्येक आन्दोलन में सम्मिलित हो जाते हैं जिनमें वे अपनी अधीरता के कारण अन्याययुक्त व्यवहार और अधर्माचरण करने का अवसर प्राप्त करते हैं।

हमारे इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रजातंत्रात्मक पद्धति में अशिक्षित, बुद्धिविहीन, अकर्मण्य और प्रमादी मतदाताओं से मत प्राप्त करने के लिए ऐसे-ऐसे प्रलोभन दिये जाते हैं, जिनका पूरा करना असम्भव अथवा हानिकर होता है। कभी ऐसा भी होता है कि एक आश्वासन जनता के एक समुदाय को सुखकर होता है और दूसरे समुदाय को दु:खकर। निर्वाचन के समय प्रत्याशियों के लिए निर्वाचित हो जाना सर्वोपरि कार्य होता है और वे निर्वाचित होने के लिए ऐसी बातें कहते हैं कि जिनको वे पूर्ण नहीं कर सकते अथवा जिनके पूर्ण करने पर कुछ मतदाताओं को लाभ हो और कुछ को हानि हो। वे किसी को रुष्ट करने का भय मोल नहीं ले सकते। ऐसा भी होता है कि सदस्य निर्वाचित हो जाने के उपरान्त भूल जाता है कि उसने क्या-क्या वचन मतदाताओं को दिये थे।

मतदाताओं में भी कुछ लोग चतुर होते हैं। प्रत्याशी को मत दिलवाने में सहायता करके उनसे साँठ-गाँठ करते रहते हैं। प्रत्याशी के सदस्य बन जाने पर उससे सरकारी काम में लाभ उठाने का यत्न करते हैं। कोई ठेके माँगता है, कोई परमिट माँगता है, कोई सस्ते दामों में भूमि चाहता है, कोई अपने सम्बन्धियों के लिए नौकरी चाहता है और सफल सदस्य यथा सम्भव सरकार द्वारा उनको सन्तुष्ट करने का यत्न करता रहता है। यदि ऐसे मतदाताओं के नेता को सफल सदस्य सन्तुष्ट नहीं कर सकता तो सफल सदस्य को भय लग जाता है कि आगामी चुनाव में अपने सहस्त्रों मतदाताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उसके विरुद्ध कर देगा।

प्रजातंत्रात्मक पद्धति का यह तीसरा दोष है और इस दोष के कारण प्राय: सब देशों में जहाँ प्रजातंत्रात्मक पद्धति प्रचलित है, जनता की कामनाएँ प्रज्वलित की जाती हैं और इससे दुर्व्यवस्था उत्पन्न होती है।

: 7:

अराजकता के कारण - 2

ऊपर की कण्डिका में हमने यह बताया है कि जनता के अधिकांश लोग प्राय: अशिक्षित और बुद्धिविहीन होते हैं। वे राज्य-कार्य की विषमताओं को समझ नहीं सकते। उनके विषय में हमने ऊँट पर लदे केसर का उदाहरण दिया है। इन लोगों से मत प्राप्त करने के लिए कई प्रकार के प्रलोभन एवं आकर्षण उत्पन्न किये जाते हैं। ये सब प्रलोभन काम की वृद्धि में कारण बन जाते है।

वस्तुस्थिति यह है कि निर्वाचित सदस्यों में भी बहुत से सदस्य राज्य-कार्य को समझने और चलाने के योग्य नहीं होते; परन्तु जैसे देश की वयस्क जनता में प्रत्येक को एक समान मत देने का अधिकार होता है, उसी प्रकार संसद एवं विधान-सभाओं में सभी सदस्यों को एक समान मत देने का अधिकार होता है। इन सदस्यों में अधिकांश सदस्य मतदाताओं को प्रलोभनों में फँसा कर, समाघोषों से उनके उद्गारों को भड़का कर, झूठे-सच्चे वचन तथा आशाएँ देकर मत प्राप्त कर सदस्य बने होते हैं। ये लोग लाखों रुपये निर्वाचन पर व्यय करते हैं। कोई विद्वान ईमानदार तथा धर्म-कर्म करने वाला व्यक्ति न ऐसा कर सकता है और न ही करने में रुचि रखता है। अतएव निर्वाचित सदस्यों में विरले ही राज्य-कार्यों को चलाने के योग्य होते हैं। यदि कोई ऐसा योग्य मन्त्री-मण्डल में ले लिया गया तो वह कुछ अधिक काल तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्री-मण्डल में रह नहीं सकता। कारण यह कि संसद सदस्य जो प्रत्येक प्रकार का छल, बल और अर्थ का व्यय कर संसद अथवा विधान सभा में आये हैं, वे अपने लिए तथा अपने क्षेत्र के प्रमुख मत दिलवाने वालों के लिए सरकारी रियायतें दिलवाने का आग्रह करते हैं। जो ईमानदार लोग ऐसा कर नहीं सकते, उनके प्रबन्ध की उनके नीतियों की संसद एवं विशाल सभा में निन्दा होने लगती है। वे लोग मन्त्री-मण्डल में रखे नहीं जा सकते। मन्त्री-मण्डल में प्राय: ऐसे लोग ही आ सकते हैं जो संसद एवं विधान सभा के सदस्यों को सरकारी सुविधाएँ प्राप्त कराते रहें।

प्रजातंत्रात्मक पद्धति में एक अन्य दोष है। सरकारी उपलब्धियों का बँटवारा मन्त्रीगण उन लोगों में करने पर विवश हो जाते हैं, जो मन्त्रियों एवं सदस्यों का निर्वाचन में सहायता करते हैं। मन्त्रियों को अथवा सदस्यों को अपनी सदस्यता से मोहं हो जाता है, जिसे वे छोड़ नही सकते और इस मोह के अधीन सब प्रकार के अनर्थ वे करते हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि किसी सैद्धान्तिक व्यवहार की उपलब्धि कराने के लिए सदस्य एवं राजनीतिक दल वचनबद्ध हो जाते हैं। उस व्यवहार को जब मन्त्रीगण सम्पन्न नहीं कर सकते तो लोग बलवे और गृह-युद्ध रचा देते हैं। परिणामस्वरूप सरकार अर्थात मन्त्रीगण ऐसी बातों को करने के लिए विवश हो जाते हैं, जिनको वे करना नहीं चाहते और जिनके विषय में वे जानते हैं कि उनके करने से देश को अपार हानि होगी।

ऐसी बहुत सी बातें पिछले कई वर्षों में भारत में हो चुकी हैं। भारत एक सम्प्रदाय निरपेक्ष (secular) राज्य है। परन्तु पंजाब के सिक्खों ने एक सिक्ख राज्य बनाने के लिए आन्दोलन किया और मन्त्री-मण्डल यह बनाने के लिए विवश हो गया। इस विवशता में कारण यह था कि पंजाब का कांग्रेस दल सिक्खों का मत प्राप्त करने के लिए उन्हें विशेष रियायतों का आश्वासन देता रहा था। सिक्खों का मत प्राप्त करने के लिए यह एक प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की रिश्वत थी। विधान-सभा और संसद बन जाने के उपरान्त सिक्खों के लिए पृथक् राज्य की माँग उपस्थित की गयी। सरकार इसको मानने के लिए उद्यत नहीं थी, परन्तु इस आशा में कि आगामी निर्वाचनों में पुनः सिक्खों की सहायता की आवश्यकता पड़ेगी, सिक्खों के लिये पृथक् राज्य बनाना स्वीकार कर लिया।

सन् 1969 में भारत में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि जिसका मूल कारण प्रजातन्त्रात्मक पद्धति ही कहा जा सकता है। कांग्रेस, जो भारत में सत्ताधीश थी, दो दलों में विभक्त हो गयी। आरम्भ से कांग्रेस में मुख्य रूप से दो परस्पर विरोधी दल थे। इसका आभास महात्मा गांधी के स्वराज्य स्थापित होने से पहले ही था। महात्मा गांधी एक दल को सदैव प्रोत्साहन देते रहे और दूसरे दल को अपनी ख्याति के बल से दबाते रहे। स्वराज्य प्राप्ति के समय, ऐसा कहा जाता है कि गांधी जी कि यह इच्छा थी कि ये दोनों दल पृथक्-पृथक् हो जायें और अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर सरकार बनाने में सहयोग दें। कांग्रेस के लोग नहीं माने। इस न मानने में मूल कारण प्रजा का सत्ता-सम्पन्न होना ही है। प्रजा थी श्री जवाहरलाल और महात्मा गांधी के पीछे। इनके विरोधी श्री पटेल आदि लोग थे। थे तो वे भी नेता, परन्तु उनकी ख्याति महात्मा गांधी द्वारा सदैव जवाहरलाल नेहरू को प्रोत्साहन देते रहने के कारण कम थी। जवाहरलाल इत्यादि तो समझते थे कि महात्मा गांधी के कंधों पर चढ़े हुए वे जनता के राजा हैं, इस कारण कांग्रेस रहे अथवा न रहे; वे तो सत्ताधीश रहेंगे। इसके विपरीत पटेल इत्यादि के पक्ष के लोग महात्मा गांधी की ख्याति से लाभ उठाने के लिये कांग्रेस को रखना चाहते थे। क्योंकि महात्मा गांधी की जनसाधारण में ख्याति अपार थी और अपने पूर्ण जीवनभर में गांधीजी, जवाहरलाल इत्यादि का समर्थन करते रहे, इस कारण महात्माजी के निधन के उपरान्त भी जनता का विश्वास नेहरू और उनके पक्ष के लोगों पर जमा रहा। जनता के बल पर नेहरू और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तराधिकारी दूसरे पक्ष वालों पर तानाशाही चलाते रहे। इस तानाशाही की परकाष्ठा सन् 1969 में जवाहरलाल की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रधान-मन्त्रीत्व काल में हुई और कांग्रेस के दानों पक्ष पृथक्-पृथक् हो गये।

इन्दिरा गांधी जिसको राष्ट्रपति बनाना चाहती थी, दूसरे पक्ष वाले लोग उस व्यक्ति को प्रसन्द नहीं करते थे। निर्वाचन बोर्ड में दो के विपरीत तीन मतों से उस व्यक्ति को राष्ट्रपति पद के लिये नामांकित करना चाहा, जिसे इन्दिरा गांधी नहीं चाहती थी। अतएव उसने बग़ावत कर दी और कांग्रेस में फूट पड़ गयी।

इस उदाहरण को देने का हमारा अभिप्राय यह है कि जनतन्त्रात्मक पद्धति के अनुसार तीन मतों से नामांकित प्रधान का समर्थन पूर्ण कांग्रेस को करना चाहिये था, परन्तु इन्दिरा गांधी की ख्याति थी जवाहरलाल नेहरू के कारण और जवाहरलाल नेहरू की ख्याति थी गांधी जी के कारण। अत: देश में एक पर्याप्त बलशाली मत था जो इन्दिरा गांधी के अनुशासन भंग को न केवल सहन करता था, पृत्युत उसकी प्रशंसा भी करता था। पिछले तेईस वर्ष का इतिहास बताता है कि गांधी का जवाहरलाल नेहरू को उपमा देना और पटेल आदि को दबा कर रखना एक महान् भूल थी और तब भी और आज भी गांधी जी की ख्याति उसी भूल का समर्थन करती चली आ रही है। जनता समाघोषों से किसी भी कार्य के लिये उद्यत की जा सकती है और यह आवश्यक नहीं कि समाघोषों से उभारी हुई भावनाएँ सदा ठीक ही होती हों। इसका अर्थ यह है कि प्रजा से संचालित राजनीति प्राय: अशुद्ध होती हैं और चतुर वक्ता जनता की भावनाओं को उभार कर नीतियों का निर्माण अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये कर सकता है।

(5) प्रजातन्त्रात्मक पद्धति में जनता प्रभुसत्ता-सम्पन्न होती है। अत: जनता से निर्वाचित संसद सदस्य एवं विधायक अपने को प्रभु-सत्ता-सम्पन्न समझने लगते हैं। वे एक ओर तो जनता को अपने अनुकूल रखने के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब प्रकार के बल-छल और प्रलोभनों को प्रयोग में लाते रहते हैं, दूसरी ओर वे सब प्रकार के सनातन धर्मो का उल्लंघन करते हुए राज्य का स्वरूप बनाते चले जाते हैं। ऐसा करने में प्राय: उनका अपना स्वार्थ ही लक्ष्य होता है। कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं जो ईमानदारी से किसी नीति अथवा कार्य के सहायक बन जाते हैं, परन्तु आधार वही होता है जो स्वार्थ सिद्ध करने वाले संसद एवं विधायक सभाओं के सदस्यों का होता है। आधार यह है कि जनता को येन-केन प्रकारेण अपने अनुकूल रखा जाये और जनता से प्राप्त प्रभुसत्ता का प्रयोग निरंकुश भाव में किया जाये।

जैसा कि हम बता चुके हैं कि जनता में बहुसंख्यक लोग राज्यकार्य से अपरिचित होते हैं और देश-हित को समझने में समर्थ नहीं होते। अत: उनसे निर्वाचित सदस्य प्राय: उन-जैसे ही राज्य-कार्य से अनभिज्ञ और देश तथा जाति के हित-अहित को जानने में अयोग्य होते हैं। इन अज्ञ एवं अयोग्य सदस्यों से अराजकता उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही है। भारत में ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाता है, प्रजातन्त्र का स्वाभाविक परिणाम प्रकट होता चला जाता है। पूर्ण देश में अव्यवस्था फैल चुकी है, देश में औद्योगिक उन्नति होने पर भी सन्तोष में अपार क्षति हुई है। नैतिकता का ह्रास तो अपरिमित मात्रा में हुआ है।

6 अज्ञ जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य न केवल देश की व्यवस्था करते हैं, वरन् अपने अधिकारों का भी स्वयं निर्णय करते हैं और अपने-आपको प्रभुसत्ता सम्पन्न मान अपनी प्रत्येक बात की रक्षा का स्वयमेव ही प्रबन्ध कर लेते हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी।

संसद और विधायक सभाओं के सदस्यों ने यह नियम बना रखा है कि संसद अथवा विधान सभाओं के भवनों में बैठकर जो कुछ भी वे कह दें, उस पर कोई आपत्ति नहीं कर सकता और न ही कोई न्यायालय उनके औचित्य पर जाँच-पड़ताल कर सकता है। एक ज्वलंत उदाहरण इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्छृंखलता का अभी-अभी उपस्थित हुआ है। पुरी के जगद्गुरू श्री शंकराचार्य जी ने पटना में एक भाषण दिया। उस भाषण में उन्होंने अपना मत अछूतों के विषय में प्रकट किया। समाचार-पत्रों ने उस मत को विकृत कर प्रकाशित किया। इस पर संसद में श्री स्वामी शंकराचार्य जी के व्याख्यान की चर्चा हुई। उस चर्चा में कुछएक सदस्यों ने और गृहमन्त्री ने श्री स्वामी जी के विषय में कुछ ऐसी बातें कहीं कि जो घोर निन्दा की सूचक थीं। उसी वक्तव्य के आधार पर पटना के एक न्यायालय में श्री स्वामी जी पर मुकदमा चलाया गया। न्यायालय ने उनको मुक्त कर दिया और कहा कि श्री स्वामी जी ने कोई भी अवैधानिक बात नहीं कही।

इस पर स्वामी जी ने गृह-मन्त्री और कुछ एक संसद्र सदस्यों पर दिल्ली के न्यायालय में मान-हानि का दावा कर दिया, परन्तु गृह-मन्त्री और उन संसद सदस्यों ने जिनके विरुद्ध दावा किया गया था, न तो अपने कथन पर पश्चात्ताप प्रकट किया और न ही न्यायालय में उपस्थित होने की आवश्यकता समझी। संसद के प्रभुसत्ता सम्पन्न होने के कारण न्यायालय इन लोगों पर किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं कर सका।

इसका अर्थ यह निकलता है कि प्रजातन्त्रात्मक पद्धति में संसद सदस्यों पर किसी प्रकार की लगाम नहीं है। वे कार्य करने में भी स्वतन्त्र हैं और दूसरों को गाली देने में भी।

इसी प्रकार का एक उदाहरण पहले भी उपस्थित हो चुका है। वैसे तो ऐसी बातें नित्य होती रहती हैं। संसद में मन्त्रीगण अनृत भाषण करने में कभी भी संकोच नही करते। हाँ, कभी-कभी इन लोगों के अनृत भाषण प्रकट करने का अवसर उपस्थित हो जाता है। एक बार श्री जवाहरलाल नेहरू प्रधानमन्त्री होने के नाते दिल्ली के एक दैनिक पत्र पर आरोप लगा बैठे कि वह अमेरिका के धन के कारण बोल रहा है। इस पर समाचार-पत्र के सम्पादक ने भारत के प्रधानमन्त्री को चुनौती दे दी कि वह इस लांछन को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध करें। प्रधानमन्त्री मौन रहे और अपने वक्तव्य पर खेद प्रकट भी नहीं कर सके।

संसद और विधान सभाएँ अपने को प्रभुसत्ता सम्पत्र कहती हैं। यह प्रभुसत्ता उनको जनता के प्रभुसत्ता सम्पत्र होने से मिली है और इससे संसद निरंतर जनता के मौलिक अधिकारों (Fundamental rights) को कम करती चली आ रही हैं। यह एक अन्य विडम्बना है प्रजातन्त्र की। प्रजातन्त्रात्मक राज्य जिस स्त्रोत से शक्ति प्राप्त करता है उसी स्त्रोत की हत्या करता चला जाता है। मौलिक अधिकारों की पिछले तेईस वर्ष में अनेकों बार काट-छाँट की गई है। अब उन पूर्ण अधिकारों पर कुठाराघात करने की बात की जा रही है। अर्थात् पूर्ण जनता को सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित करने के लिए दावे किये जा रहे हैं। सामान्य जनता को जनता के प्रतिनिधि यह कह रहे हैं कि सम्पत्ति रखने का अधिकार जनता के पास नहीं रहने दिया जायेगा।

7 जनता में अधिकांश लोग अल्प-शिक्षित अथवा अशिक्षित, अल्प-ज्ञानी अथवा अज्ञानी, अल्प-सामर्थ्य वाले अथवा असमर्थ होते हैं। अत: वे सदा यह इच्छा करते रहते हैं कि उनको उन लोगों के समान समझा जाये जो विद्वान्, योग्य, कार्य-कुशल और सामर्थ्य वाले हैं। जनता के बहुसंख्या में लोग प्रजातन्त्रात्मक पद्धति के अनुरूप सब बातों में अपने को समान अधिकार वाला समझते हैं। अतएव वे अपनी प्रतिनिधि सरकार द्वारा यह इच्छा करते हैं कि पूर्ण देश की सम्पत्ति और विभूतियों को सब में बराबर बाँट दिया जाये। इसी का नाम समाजवाद है।

समाजवाद की परिभाषा यही है कि सब लोगों का देश की सब विभूतियों पर समान अधिकार है और यह समानाधिकार राज्य द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। यह एक दूषित सिद्धान्त है जो न्याय और सत्य के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब मनुष्य समान गुण और समान सामर्थ्यवान नहीं होते। यह बात स्पष्ट देखते में आती है। इस कारण सबके समान अधिकार भी नहीं हो सकते और सबकी उपलब्धियाँ भी समान नहीं हो सकतीं। यह सिद्धान्त वर्तमान युग के समाजवादी अनुभव भी करते हैं और इसको कार्य में स्वीकार भी करते हैं, परन्तु हठपूर्वक कहते यही हैं कि सब समान हैं। अपने हठ को पूर्ण करने के लिए कई प्रकार के अयुक्त वचन वे कहते रहते हैं। उनका एक समाघोष यह है कि निर्धन और धनी में अन्तर कम होना चाहिये। न्यूनातिन्यून और उच्चतम आय में अन्तर कम होन चाहिये। किसी व्यक्ति के पास निजी सम्पत्ति न्यूनातिन्यून होनी चाहिये इत्यादि।

इस न्यूनातिन्यून अन्तर की परिभाषा न तो किसी सिद्धान्त पर आधारित है और न ही किसी की इच्छा पर। भिन्न-भिन्न समाजवादी भिन्न-भिन्न अन्तरों की माँग करते हैं।

समाजवाद, अभिप्राय यह कि सब समाज के घटकों में बराबरी अथवा यथा सम्भव बराबरी प्रजातन्त्र की ही देन है। देखने में यह आता है प्रजातन्त्र=समाजवाद=अराजकता और=सब प्रकार के दमन।

समाजवाद इस पुस्तक का विषय नहीं है। इस कारण इसकी विस्तृत व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं। केवल इतना कहना अभिप्रेत है कि प्रजातन्त्र में देश के सब वयस्क बराबर मत रखते हैं। बराबर मत का स्वाभाविक परिणाम बराबर अधिकार है और बराबर अधिकारों का अर्थ अराजकता है। अराजकता को यदि रूस की पद्धति के अनुरूप नियन्त्रित किया जाये तो देश को पशुओं का बाड़ा बनाना पड़ेगा। पशुओं को हाँकने वाले कुछ लोग लाठी लिये खड़े रहते हैं और पशुओं को एक निश्चित मार्ग पर ले जाने का यत्न करते रहते हैं। यह कम्युनिज़्म है।

समानाधिकार से कामनाओं की वृद्धि होती है। कामनाओं की पूर्ति समान रूप में हो नहीं सकती। कारण यह कि सामर्थ्य सीमित होती है और कामनाएँ जब बढ़ती हैं तो उनकी सीमा नहीं रहती। ****

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय खण्ड

: 1 :

वर्णाश्रम धर्म सामान्य रूप में

पुस्तक के पूर्व खण्ड में हमने बताया है कि राज्य जन-साधारण में काम तथा मोह की वृद्धि को रोकने के लिये निर्माण किया गया था और राज्याधिकारियों के काम तथा मोह को रोकने के लिये राज्य-पद्धति अर्थात् राजाओं पर नियन्त्रण रखने के लिये विधि-विधान प्रस्तावित किये गए थे। जैसे-जैसे प्रस्तावित विधि-विधान असफल होते गये, वैसे-वैसे नये विधि-विधान बनाये जाते रहे हैं। इस प्रक्रिया में अन्तिम विधि-विधान प्रजातन्त्रात्मक है। प्रजातन्त्रात्मक का अर्थ हमने पूर्व खण्ड में वर्णन किया है। उसको यदि एक वाक्य में लिखा जाये तो वह इस प्रकार है। प्रजा (जन-साधारण) पूर्ण सत्ता-सम्पन्न हो और समय-समय पर राज्य जनता से समर्थन प्राप्त करे।

यह तो भूमण्डल के देशों की स्थिति से स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि प्रजातन्त्रात्मक पद्धति में भी राज्याधिकारी कम उच्छृंखल नहीं रहे। परिणामस्वरूप अराजकता व्यापक रूप में प्रकट हो रही है। हमने अराजकता के अर्थ भी स्पष्ट किये हैं। वे इस प्रकार हैं। राज्य मनुष्य में काम और मोह को नियन्त्रण में रखने के लिये निर्माण हुआ था और जब कामनाएँ एवं मोह जब अनियन्त्रित हो जायें तो अराजकता हो गयी मानी जायेगी।

जब प्रथम बार अराजकता को नियन्त्रित करने के लिये उपाय विचार किया गया तो ब्रह्मा की त्रिवर्ग की कल्पना की गयी थी। यह स्मृति तथा इससे विचारित अन्य स्मृतियाँ जिनकी आधारशिला त्रिवर्ग स्मृति ही थी, चिरकाल तक चलती रहीं और उनसे मानव-समाज में व्यावहारिक रूप में शान्ति बनी रही। इस स्मृति ने समाज के एक स्वरूप की कल्पना की थी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य को उस समाज का एक अंग माना था। उसमें न तो प्रजा पूर्ण सत्ता-सम्पन्न थी और न ही राज्य। इस व्यवस्था को वर्णाश्रम व्यवस्था कहते हैं। इसमें एक व्यक्ति की पूर्ण जीवन-चर्या का वर्णन है और साथ ही समाज का भी। व्यक्ति की जीवन-चर्या को आश्रम-धर्म कहते हैं और समाज की व्यवस्था को वर्ण-धर्म कहते हैं। दोनों की सामूहिक व्यवस्था को वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। अतएव वर्णाश्रम धर्म इस संसार में मानव समाज के लिये एक सम्पूर्ण व्यवस्था है।

यदि आजकल की भाषा में वर्णाश्रम व्यवस्था का कुछ नाम रखा जा सकता है तो वह मानव शास्त्र है। क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था में व्यक्ति और समाज दोनों के विषय में नियमोपनियम कहे गये हैं; इस कारण इसे समाज शास्त्र भी कहा जा सकता है। मानवों की समाज में व्यक्ति और समष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं।

वैदिक परम्परा में यह माना गया है कि मानव शास्त्र अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था का मूल स्रोत वेद हैं। वेद मानव-समाज को चार भागों में बाँटता है। यह विभाग मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव से निश्चय किये जाते हैं। गुण का अर्थ है मनुष्य की योग्यता, कर्म का अर्थ है मनुष्य का व्यवसाय और स्वभाव का अभिप्राय है मनुष्य के वे गुण, जो मनुष्य स्वभावाधीन रखता है। वेदों में वर्णों की व्याख्या करने के लिये इसकी मनुष्य के भिन्न-भिन्न अंगों से तुलना की गई है। पूर्ण मानव-समाज की कल्पना एक मानव-शरीर की भाँति और उसके अनुसार ही समाज के अंगों की कल्पना की गयी है।

ऐसा माना जाता है कि परमात्मा ने मानव-शरीर को एक इकाई की भाँति निर्मित किया है। जब मनुष्य के पूर्णांग एक-दूसरे के सहायक होते हुए कार्य करते हैं तो मनुष्य का जीवन सुलभ हो जाता है और सुचारु रूप से कार्य करने लगता है। इसी प्रकार समाज के भिन्न-भिन्न अंग जब परस्पर सहयोग व समन्वय से कार्य करते हैं तो समाज का जीवन भी सुलभ और सुचारु रूप से कार्य करने वाला हो जाना चाहिये, ऐसी कल्पना की गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य के शरीर में चार विभाग कार्य करते हुए देखे जाते हैं और उन चार विभागों की तुलना समाज के चार वर्णों से की गयी है। वेद इस प्रकार कहते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रोऽअजायत॥

(यजु० 31-11)

इसका अर्थ है कि समाज में सिर का कार्य करने के लिये ब्राह्मण हैं, बाहों का कार्य करने के लिये क्षत्रिय हैं, पेट का कार्य करने के लिये वैश्य वर्ण है और पाँव का कार्य करने के लिये शूद्र हैं। मन्त्र में शब्द है 'अजायत' अर्थात् उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि समाज में चार प्रकार के लोग उत्पन्न होते हैं, जिनको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जा सकता है। मानव-शरीर में मस्तिष्क बाह्य पदार्थों और वस्तुओं के संस्कार संचय करता है। मनुष्य जो कुछ भी देखता है, उसका प्रतिबिम्ब मस्तिष्क में पहुँचता है और वहाँ पर उपस्थित मन उस अनुभव को संचय कर लेता है। इस प्रक्रिया को ज्ञान प्राप्त करना कहते हैं। मस्तिष्क का एक अन्य कार्य भी है। यह काम बुद्धि करती है। बुद्धि संचित संस्कारों (ज्ञान) का विश्लेषण कर उसके अनुरूप कार्य का निश्चय कर शरीर को कार्य करने की सम्मति देती है। इसी प्रकार समाज में भी यही कार्य करने वाला एक वर्ग है। उसे ब्राह्मण कहा है। ब्राह्मण ज्ञान प्राप्त करते हैं, फिर उस ज्ञान का विश्लेषण कर मानव-समाज की समस्याओं का सुझाव उपस्थित करते हैं।

मानव शरीर में बाँहें और हाथ, शरीर की रक्षा के लिये बनाये गये हैं। हाथ मनुष्य के बाहर रहने वाली विपरीत परिस्थितियों का विरोध करने के लिये निर्माण हुए हैं और साथ ही शरीर में कहीं खुजली हो, पीड़ा हो अथवा अन्य किसी प्रकार का कष्ट हो तो उसे दूर करने का कार्य करते हैं। समाज में यही कार्य क्षत्रिय वर्ण को दिया गया है। क्षत्रिय वर्ण के लोग समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर बाहर से होने वाले आक्रमणों और समाज के भीतर उत्पन्न होने वाले विकारों का प्रतिशोध करने के लिये नियुक्त किये जाते हैं।

मानव शरीर में पेट भोज्य पदार्थों को ग्रहण करके उनको पचाकर शरीर के अंगों के विकास का कार्य करता है। पेट के लिये भोजन सामग्री तो हाथ लेकर आता है, परन्तु उस भोजन सामग्री को शरीर का अंग बनाने के लिये पेट ही समर्थ है। यही कार्य समाज में वैश्य वर्ण के लोग करते हैं। ये लोग उपयुक्त पदार्थों को लेकर उनको समाजोपयोगी रूप देकर समाज के भिन्न-भिन्न अंगों में वितरण कर देते हैं।

मानव शरीर का एक चौथा अंग है, जिसे पाँव का नाम दिया गया है। वास्तव में पूर्ण शरीर के भार को वहन करने वाला यह महत्वपूर्ण अंग है। यह शरीर के उठने-बैठने, चलने-भागने इत्यादि सब प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करता है। इसी प्रकार समाज में शूद्र वर्ग है। यह भी पूर्ण समाज की सेवा करने के लिये नियुक्त किया गया है।

इस प्रकार ऐसा सिद्ध होता है कि वेदों में समाज की कल्पना एक मानव-शरीर के तुल्य की गयी है। मानव शरीर में भी एक ऐसे यन्त्र की आवश्यकता है जो पूर्ण शरीर में समन्वय कर सके। उदाहरण के रूप में मन मस्तिष्क का एक भाग है। इस ज्ञान को प्राप्त कराने के लिये मनुष्य शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान मस्तिष्क तक पहुँचना चाहिये और इसके लिये शरीर में स्नायु (nerves) हैं। मस्तिष्क में संचित ज्ञान का जब बुद्धि विश्लेषण करती है तथा कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं तो उन निष्कर्षों को कार्यान्वित करने के लिये हाथ, पेट और पाँव तक वे निष्कर्ष पहुँचाये जाते हैं। और इन निर्ष्कर्षों को कार्यान्वित करने के लिये कहा जाता है। यह कार्य भी स्नायु ही करती हैं। मनुष्य-शरीर में स्नायुओं (nerves) का एक जाल बिछा हुआ है। इस पूर्ण जाल को स्नायु-मण्डल (nervous-system) कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव शरीर में मस्तिष्क और स्नायु-मण्डल स्वत: कार्य नहीं करते। इस कार्य को करने के लिये पूर्ण शरीर का एक अधिष्ठाता आत्मा माना जाता है। अत: पूर्ण शरीर का कार्य संक्षेप रूप में इस प्रकार होता है। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वह ज्ञान ज्ञान-स्नायुओं से मस्तिष्क तक पहुँचाया जाता है। मस्तिष्क में मन ज्ञान को संचय करता है और उस ज्ञान को बुद्धि पर प्रतिभासित करता है। बुद्धि उस ज्ञान का विश्लेषण कर करने योग्य कार्य को आत्मा के सन्मुख उपस्थित करती है और आत्मा मन द्वारा कर्म-स्नायुओं को कार्य करने का आदेश देता है। यह आदेश कर्मेन्द्रियों तक पहुँचता है और कर्मेन्द्रियाँ उस आदेश के अनुसार कार्य करती हैं।

मनष्य-शरीर में जिस प्रकार कार्य होता है, उसी प्रकार समाज में कार्य करने की व्यवस्था वेद और स्मृति शास्त्रों ने की है। मनुस्मृति में लिखा है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युति:।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्॥

(मनु० 1-87)

अर्थात्—पूर्ण सृष्टि की व्यवस्था के लिये दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा ने समाज में मुख, बाहु, उरु और पाँव के समान प्राणियों के कर्मों की कल्पना की है।

एक स्वस्थ मनुष्य जैसे सुगमता से कार्य और निर्वाह करता है; इसी प्रकार एक स्वस्थ समाज कार्य कर सकता है। दोनों के कार्य करने में सिद्धान्त एक ही है। समाज में चार प्रकार के लोग हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनका विभाजन गुण, कर्म और स्वभाव से होता है। भगवद्गीता में लिखा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणै:॥

(भ०गी० 18-41)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—परमात्मा ने मनुष्य-समाज को गुण, कर्म और स्वभाव से चार वर्णों में बाँटा है। यह वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

यहाँ गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन करते हुए जन्म का उल्लेख नहीं है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, समाज के घटकों का यह विभाजन जन्म से नहीं होता। भगवदगीता में ब्राह्मण के गुण इस प्रकार वर्णन किये हैं—

शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(18-42)

अर्थात्—शम (मन पर नियन्त्रण), दम (इन्द्रियों का दमन), शौच (बाहर और भीतर की पवित्रता), तप (कार्य के लिए कठिनाई सहन करने की सामर्थ्य), शान्ति (व्यवहार में सरलता), आस्तिक्यम् (आस्तिक बुद्धि), ज्ञानम् (ज्ञान), विज्ञानम् (अध्यात्मज्ञान)।

ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। इन कर्मों को करने की योग्यता को ही गुण कहते हैं। ब्राह्मण के कर्मों की पृथक् विवेचना भी की है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

(मनु० 1-88)

अर्थात्—पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान लेना, दान देना; ये छ: कर्म ब्राह्मणों के लिखे हैं।

इसी प्रकार क्षत्रिय के धर्म का भी उल्लेख है। क्षत्रिय के कर्म हैं—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत:॥

(मनु० 1-89)

अर्थात—प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयों में अनासक्ति; ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। क्षत्रिय के स्वभाव इस प्रकार लिखे हैं—

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(भ० गी० 18-43)

अर्थात्—शौर्य, तेज, धैर्य, कार्य-दक्षता और युद्ध में अप्लायन अर्थात् न भागने का स्वभाव, दान देने का स्वभाव और ईश्वर में विश्वास। इसी प्रकार वैश्य के विषय में लिखा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(भ० गी० 18-44)

अर्थात्—खेती-बाड़ी करना, गौ आदि धन की रक्षा करना, व्यापार करना। वैश्यों के कर्म के विषय में यह भी लिखा है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

(मनु० 1-90)

अर्थात्—दान, व्यापार, स्वाध्याय और गौ आदि धन -सम्पत्ति की रक्षा का स्वभाव रखना। ये वैश्य के कर्म हैं।

शूद्र का कार्य और स्वभाव केवल परिचर्या बताया है—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।

(भ० गी० 18-44)

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

(मनु० 1-91)

अर्थात्—स्वभाव से शूद्र के कर्म सेवा आदि हैं।

मनु ने शूद्र के कर्मों में लिखा है कि वे तीनों वर्णों के लोगों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा करें।

इस सब का अभिप्राय यह है कि पूर्ण समाज दो भागों में खण्डित है। एक भाग में वे लोग हैं जो शान्तिपूर्वक इस संसार में जीवन व्यतीत करना चाहते हैं और दूसरे भाग में वे लोग हैं, जो शान्ति की अपेक्षा जीवन के सुख से अधिक लुभायमान हैं। अर्थात् वे जीवन के सुख भोगने के लिए शान्ति व्यवस्था की चिन्ता नहीं करते। पहली प्रकार के लोगों को दैवी प्रवृत्ति के कहा जाता है और दूसरी प्रकार के लोगों को आसुरी प्रवृत्ति के। भगवद्गीता में स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा है—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु।।

(भ० गी० 16-6)

अर्थात्—इस लोक में प्राणियों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं। एक दैवी स्वभाव के और दूसरे आसुरी स्वभाव के। दोनों के स्वभावों का वर्णन किया गया है।

गीता में लिखे दैवी और आसुरी स्वभावों का वर्णन पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दैवी स्वभाव के लोग संसार में सुख और शान्ति का समन्वय कर रहना चाहते हैं। इसके विपरीत आसुरी स्वभाव वाले वे लोग हैं, जिनकी दृष्टि में शान्ति का कुछ मूल्य नहीं। जीवन के सुखों का मूल्य सर्वोपरि है।

वर्णाश्रम व्यवस्था उन लोगों के लिए है जो संसार में सुख और शान्ति का समान रूप से भोग करना चाहते हैं। शान्ति तब ही प्राप्त हो सकती है जब समाज के सब घटक एक-दूसरे के साथ धर्मयुक्त व्यवहार करें।

धर्म के व्यवहार में ही वर्ण-व्यवस्था आती है। आश्रम का अर्थ हम ऊपर बता चुके हैं। यहाँ इस बात पर जितना भी बल दिया जाये, उतना कम है कि वर्ण जन्म से नहीं होते; गुण, कर्म और स्वभाव से होते हैं। ऊपर जितने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उद्धरण शास्त्रों में से दिये गए हैं उनसे और अन्य स्थानों पर भी जो उद्धरण मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट है कि वर्ण गुण, कर्म और स्वभाव से बनते हैं। लोग कहते हैं कि गुण और स्वभाव पूर्व-जन्म के कर्मों से बनते हैं। कुछ एक का मत है कि गुण (योग्यता) और स्वभाव वर्तमान जीवन की उपलब्धियों में से हैं। ये (गुण और स्वभाव) किसी प्रकार भी प्राप्त हों, पूर्व-जन्म के कर्मों से हों अथवा वर्तमान जन्म के पुरुषार्थ से हों, वर्ण का निश्चय इनके उपस्थित होने पर ही होता है।

शास्त्र में ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जहाँ यह लिखा है कि उच्च वर्ण वाले लोग अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यदि अपने कर्म पर आरूढ़ न रहें तो वे अपने वर्ण में नहीं रहते।

उदाहरण के रूप में मनु-समृति में इस प्रकार लिखा है—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जात: श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात्।।

(मनु0 10-64)

अर्थात्—शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने वर्णों से गिरकर दूसरे वर्ण में चले जाते हैं।

इसी प्रकार एक और श्लोक है—

आजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मण: स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तर: ।।

(मनु0 10-81)

अर्थ है—यदि ब्राह्मण अपने कर्म से जीवन-निर्वाह नहीं कर सके तो क्षत्रिय-कर्म करता हुआ जीवन-निर्वाह करे; क्योंकि ये क्षत्रिय-कर्म ब्राह्मण-कर्म के समीप ही है।

महाभारत में लिखा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेत:।
वृषलीपति: पिशुनो नर्तनश्च राजप्रेष्यो यश्य भवेद् विकर्मा ।।
जपन् वेदानजपंश्चापि राजन् सम: शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्य:।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति राजन्नेतान् वर्जयेद् देवकृत्ये ।।
य: स्याद् दान्त: सौमपश्चार्यशील: सानुकोश: सर्वसहो निराशी:।
ऋजुर्मृदुरनृशंस: क्षमावान् स वै विप्रो नेतर: पापकर्मा ।।

(महा भा० शा० 63-4,5,8)

(जो ब्राह्मण, दुष्चरित्र, धर्महीन, शूद्र जातीय एवं कुलटा स्त्री से सम्बन्ध रखने वाला चुगलखोर, नाचने वाला, राज-सेवक तथा दूसरे-दूसरे कर्म करने वाला होता है, वह ब्राह्मण से गिरकर शूद्र हो जाता है।

और भी लिखा है—

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मण: ।।

(महा भा० शा० 189-8)

इसका अर्थ है कि ऊपर लिखे सद्गुण यदि शूद्र में दिखायी दें और ब्राह्मण में न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं।

भाव स्पष्ट है कि ब्राह्मण यदि उक्त कर्म करने से शूद्र हो जाता है तो क्षत्रिय के कर्म करने से अथवा वैश्य के कर्म करने से भी वह ब्राह्मण वर्ण से च्युत होकर उन वर्णों में चला जाता है।

वर्ण-व्यवस्था वर्तमान जीवन के गुण, कर्म और स्वभाव से हो यह सर्वथा युक्तियुक्त है। इस वर्ण-व्यवस्था से देश में अराजकता कम होगी। जो जिस काम के योग्य हो, वही वह काम करे और दूसरा काम न करे। उसे प्रतिकार भी अपने गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही मिले। ऐसी व्यवस्था कभी भी अराजकता उत्पन्न नहीं कर सकती।

हमारा मत है कि जब-जब और जहाँ-जहाँ गुण, कर्म और स्वभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से व्यवस्था और उसी के अनुसार प्रतिकार स्थापित हुआ है, वहाँ अराजकता निर्मूल हुई है और शान्ति स्थापित हुई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ण-व्यवस्था में दोष उत्पन्न हुआ, वर्ण-व्यवस्था को जन्म से मानने पर। जिस किसी ने भी वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध जन्म से लगाया, उसने मानव-समाज पर सामान्य रूप में और वैदिक समाज पर विशेष रूप में घोर अत्याचार किया है। वेदों में अथवा मान्य शास्त्रों में इसका सम्बन्ध जन्म से नहीं रखा गया। यह स्पष्ट रूप में वर्तमान जीवन के गुण, कर्म और स्वभाव से ही सम्बन्धित है।

इसमें एक बात और समझने की है। वह यह कि जैसा जिसका गुण, कर्म और स्वभाव हो अर्थात् जो व्यक्ति जिस वर्ण में हो, उसे प्रसन्नतापूर्वक अपने वर्ण का कर्म करना चाहिये।

भगवद्गीता में लिखा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।

(18-47)

अर्थात्—अपने वर्ण का धर्म श्रेष्ठ होता है, गुणकारी होता है।

इसके विपतीत दूसरे वर्ण का धर्म कितनी भी कुशलता से पालन क्यों न किया जाये, हीन गुण वाला होता है। स्वभाव से नियत किये हुए अपने कर्म को करता हुआ मुन्ष्य पाप में नहीं फँसता।

इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि समय पाकर स्वभाव बदल जाये अथवा स्वाध्याय और अभ्यास से स्वभाव बदल दिया जाये तो भी कर्म नहीं बदला जा सकता। कर्म के समय जिस प्रकार के गुण मनुष्य के अन्दर हों और अभ्यास से जैसा स्वभाव उसका बन जाये, वैसा ही कर्म वह कर सकता है और उसी के अनुकूल उसका वर्ण माना जाना चाहिए।

भगवद्गीता में एक और बात भी लिखी है। वह यह कि वर्णों के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। अपने-अपने वर्ण का कर्म करता हुआ मनुष्य प्रत्येक प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(18-45,46)

अपने-अपने वर्णो के कर्मों में लगा हुआ मनुष्य (संसिद्धिम्) श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है। (श्रेष्ठ सिद्धि का अभिप्राय है अपने कर्म में पूर्ण सफलता)। अपने कर्मों में लगा हुआ मनुष्य कैसे सिद्धि प्राप्त करता है? उसका उपाय यह है—

जिससे सब प्राणी उत्पन्न हुए और जिससे यह सब जगत् ओत-प्रोत है, उस परमात्मा को अपने (स्वाभाविक) कर्म अर्पित करके मनुष्य को (अपने कर्मों में) सिद्धि प्राप्त होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि जिस वर्ण के कर्म करने का मनुष्य में स्वभाव हो और योग्यता हो, उसी वर्ण के कर्म करता हुआ मनुष्य सफलता प्राप्त करता है; सांसारिक सफलता भी और पारमार्थिक सफलता भी। सफलता में कर्म का प्रतिकार भी आता है।

यह है वर्ण-व्यवस्था का सामान्य रूप। उन सब श्रेष्ठ मनुष्यों में जो संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहते हैं, यही चार प्रकार के कर्म हैं और उन कर्मों के करने वाले चार प्रकार के लोग हैं, जिनका हमने इस अध्याय में वर्णन किया है। इससे व्यवस्था स्थापित होगी, परन्तु उस व्यवस्था को स्थापित करने वाला राज्य है। राज्य स्वयमेव किसी वर्ण में नहीं आता और न ही यह सब वर्ण का समूह है, वरन् यह समाज का एक पृथक् संस्थान (institution) है। इसकी व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Gurukula Kangri (Deemed to be University), Haridwar
167938
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 2 :

आश्रम-व्यवस्था

समाज का संगठन कभी पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक समाज के घटक योग्य न हों। वास्तव में समाज घटकों का समूह है और जैसे श्रेष्ठ घटक समाज के होंगे, वैसा ही श्रेष्ठ समाज होगा। यह नहीं हो सकता कि व्यक्ति तो निकृष्ट, दुर्बल, बुद्धि- विहीन और हीन मन और संस्कार वाले हों और उनसे निर्मित समाज श्रेष्ठ हो। इस कारण वैदिक समाज-शास्त्र (स्मृति शास्त्र) में व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठ बनाना प्रथम कर्तव्य माना है। समाज तो पीछे बनता है।

एक श्रेष्ठ व्यक्ति के गुण क्या होने चाहियें, इसका अनुमान व्यक्ति के अपने ज्ञान से होता है। मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का संयोग है। शरीर और बुद्धि तो जड़ पदार्थ हैं। ये माता-पिता से प्राप्त होते हैं। रज और वीर्य के संयोग से शरीर और बुद्धि बनती है। जन्म के उपरान्त श्रेष्ठ भोजन, स्थान, साधन, वातावरण से ये उन्नत होती हैं और हीन भोजन, स्थान इत्यादि से दुर्बल हो जाती हैं।

मन भी प्रकृति का एक अंश है, परन्तु यह आत्मा के साथ सदैव सम्बन्धित रहता है और जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के साथ ही शरीर बदलता चला जाता है। मन और आत्मा का वियोग प्रलय काल में होता है अथवा आत्मा की मोक्ष-अवस्था में होता है। दोनों अवस्थाओं में अन्तर यह है कि प्रलय काल में आत्मा ज्ञान-युक्त नहीं होता। वह कामनाओं में फँसा हुआ उनका उपभोग करता हुआ ज्ञान-विहीन ही रह जाता है और मोक्षावस्था में आत्मा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में उस ज्ञान के बल पर वह मन से विमुक्त होकर भी चेतनावस्था में रहता है और ज्ञानवान् होने से अपने चेतनता के गुण को अपनी इच्छानुसार प्रयोग करता है। इसी को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवद्गीता में इस प्रकार समझाया गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(भगवान् कृष्ण को एक मुक्त जीव माना गया है और वह कहते हैं—जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अर्धम की वृद्धि होती है, तब-तब मैं धर्म के उत्थान के लिए अपनी इच्छा से प्रकट होता हूँ।)

हमारे कहने का अभिप्राय है कि मन और आत्मा का संयोग जन्म-जन्मान्तर तक पूर्ण कल्प-भर चलता है। यह संयोग तब ही टूटता है जब जीवात्मा मुक्त हो जाता है अथवा जब जीवात्मा प्रलय काल में सुषुप्ति अवस्था में हो जाता है।

मन ज्ञान के संस्कार संचय करता है। जो कुछ हम देखते, सुनते, पढ़ते अथवा अनुभव करते हैं; उस सब का ज्ञान मन के ऊपर अंकित रहता है। इसको स्मृति भी कहते हैं। जब मन आत्मा के साथ शरीर बदलता है तो बहुत से संस्कार क्षीण हो जाते हैं। इस पर भी कुछ संस्कार अति सुदृढ़ रूप में रहते हैं और ये संस्कार अगले जन्म में अपने अनुरूप कर्म करने की प्रेरणा देते हैं।

संस्कार स्वभाव नहीं बनाते। ये कर्मों की प्रेरणा देते हैं। हाँ, एक ही कर्म को बार-बार करने से वैसा स्वभाव बन जाता है। उदाहरण के रूप में एक मनुष्य में सात्विक संस्कार मन पर एकत्रित हो गये और जब वह जीवात्मा के साथ दूसरे शरीर में जाता है तो ये संस्कार एक सीमा तक मन के साथ ही जाते हैं और अगले जन्म में बचपन से ही सात्विक कर्मों की प्रेरणा देने लगते हैं और यदि किसी प्रकार की बाधा न हो तो सात्त्विक कर्म करने का स्वभाव डाल देते हैं। कभी बाधा भी उत्पन्न हो जाती है। बच्चा सात्त्विक संस्कार लेकर किसी दुश्चरित्र के घर में उत्पन्न हो जाता है। वहाँ पर विपरीत कर्म होते देख संस्कार सात्त्विक होने पर भी कर्म दूसरे प्रकार के होने लगते हैं और फिर वैसा ही स्वभाव बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण मनुष्य का शरीर और बुद्धि सदैव माता-पिता से बनते हैं। जन्म के समय में दोनों अति दुर्बल होते हैं, परन्तु संस्कार और वर्तमान जन्म का वातावरण, शरीर और बुद्धि को एक सीमा तक बलयुक्त कर सकते हैं।

एक मनुष्य को समाज में उपयुक्त स्थान दिलवाने के लिए शरीर, बुद्धि और मन इन सब का उचित मार्ग-दर्शन करना पड़ता है और इन सब को श्रेष्ठ बनाने के लिए यत्न करना पड़ता है। यही उद्देश्य है आश्रम व्यवस्था का।

आश्रम जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, व्यक्ति के निर्माण और उसके जीवन-कार्य को व्यवस्थित करने के लिए नियोजित है। ये चार हैं—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वाणप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम।

व्यक्ति के जन्म से मरणपर्यन्त मुख्य रूप में इन चार अवस्थाओं की व्यवस्था की गई है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। यह शिक्षा-दीक्षा, वैदिक व्यवस्थानुसार उस दिन से आरम्भ होती है, जिस दिन बालक का बीजारोपण होता है अर्थात गर्भ-स्थापना के साथ ही बालक के निर्माण की शिक्षा आरम्भ हो जाती है। वैदिक स्मृतियों में तब से ही बालक पर संस्कार डालने का विधान है।

जन्म के समय से तो सीधे बालक पर संस्कार डालने का विधान है। इसके लिये जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म और कर्ण-वेध इत्यादि संस्कार नियत हैं। इनके अतिरिक्त माता-पिता के रहन-सहन, भोजन-व्यवस्था, मनस्थिति और वातावरण एंव शिक्षा द्वारा बालक पर संस्कार डालने का आयोजन किया जाता है।

मुख्य संस्कार जिसके साथ माता का कार्य समाप्त होता है और पिता तथा आचार्य का कार्य आरम्भ होता है, उपनयन संस्कार है।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि ये संस्कार किसी प्रकार भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माता-पिता के वर्ण से सम्बन्ध नहीं रखते। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब की सन्तान के लिये समान रूप से इन संस्कारों का विधान है। ये संस्कार प्राय: माता-पिता के घर पर ही सम्पन्न होते हैं। इनमें किसी पुरोहित इत्यादि के बुलाने की भी आवश्यकता नहीं होती।

कुछ लोगों का विचार है कि ये वैदिक संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के लिये ही नियत किये गये हैं और शूद्रों के लिये नहीं हैं। कुछ एक मध्य-कालीन स्मृतिकारों ने भी ऐसा लिखा है। हमारा उनसे मतभेद है। वैदिक परम्परा में गर्भाधान के काल से लेकर उपनयन संस्कार तक वर्ण के अनुसार भेदभाव का कहीं उल्लेख नहीं है।

उपनयन संस्कार एक प्रकार की परीक्षा है, जिसमें यह देखा जाता है कि बालक द्विज होगा अथवा शूद्र रहेगा। उपनयन संस्कार के लिये मनुस्मृति में निम्नलिखित व्यवस्था है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विश:॥

(मनु० 2-36)

अर्थात्—गर्भ स्थिति से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन संस्कार हो जाना चाहिए।

यहाँ यह नहीं लिखा कि ब्राह्मण के लड़के का अथवा क्षत्रिय इत्यादि के लड़के का ही यह संस्कार हो सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन संस्कार का अर्थ नीचे लिखे श्लोक में स्पष्ट किया गया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिन: षष्टे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(मनु० 2-37)

इसका अर्थ यह है—(ब्रह्मवर्चस कामस्य) ब्रह्म कर्म की कामना वाले का शिक्षा-कार्य पाँचवें वर्ष की आयु में आरम्भ कर दे। राजसी बल के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये छटे वर्ष में शिक्षा-कार्य आरम्भ करे और वैश्य के कार्य के लिये आठवें वर्ष में शिक्षा-कार्य आरम्भ करे।

इसका अभिप्राय यह है कि जो जीवन में ब्राह्मण का कार्य करना चाहते हैं, वे इस कार्य की शिक्षा का आरम्भ पाचँ वर्ष की आयु में आरम्भ करें। इसी प्रकार क्षात्र बल को जीवन-कार्य बनाने वाले इसकी शिक्षा छटे वर्ष में आरम्भ करें। तथा वैश्य कार्य की इच्छा वाले आठवें वर्ष में शिक्षा आरम्भ करें।

उपनयन ब्राह्मण का आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में होता है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी माता-पिता की सन्तान, जो ब्राह्मण-कर्म करने की इच्छा रखती है, पाँच वर्ष की वयस् से शिक्षा आरम्भ करे। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के लिये लिखा है। इस काल में यह निश्चय हो जाता है कि बालक ब्राह्मण बन सकेगा, क्षत्रिय बन सकेगा, वैश्य बन सकेगा अथवा शूद्र बनेगा।

उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत दिया जाता है। इससे यही प्रतीत होता है कि यह एक प्रकार का प्रमाण-पत्र (certificate) है कि बालक को ब्राह्मण की शिक्षा दी जाये अथवा क्षत्रिय की या वैश्य की। इस संस्कार की आयु ब्राह्मण के लिये आठवें वर्ष, क्षत्रिय के लिए ग्यारहवें वर्ष और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष निश्चित की है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह बालक जो आठ वर्ष की आयु पर यज्ञोपवीत के योग्य समझे जाते हैं, वे ब्राह्मण होंगे। क्षत्रिय बनने के लिए बल और पराक्रम की आवश्यकता रहती है और यह आठ वर्ष की आयु तक प्रकट नहीं हो सकती। इस कारण जो बालक क्षत्रिय बनने की अभिलाषा रखते हैं, वे प्रारम्भिक शिक्षा छटे वर्ष से आरम्भ करके ग्यारह वर्ष तक इस योग्य हो सकते हैं कि उनमें क्षत्रिय वर्ण के गुण पता लग सकें। वैश्यों के लिये एक वर्ष और अधिक नियत है। यदि तो उपनयन संस्कार केवल मात्र एक रीति-रिवाज होता, तब यह न लिखा जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि ब्राह्मण वर्चस् की कामना करने वाला पाँचवें वर्ष में शिक्षा आरम्भ करे और क्षात्र बल की अभिलाषा रखने वाला छ: वर्ष की आयु में शिक्षा आरम्भ करे इत्यादि। तब तो यह लिख देना पर्याप्त होता कि उपनयन संस्कार के उपरान्त यज्ञोपवीत देकर द्विज बनाया जा सकता है। ऐसा न करके यह स्पष्ट संकेत है कि पहले प्रारम्भिक शिक्षा हो, फिर अमुक-अमुक आयु में उपनयन संस्कार कराया जाये।

एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह कि यदि ब्राह्मण-कर्म की अभिलाषा वाले अथवा क्षत्रिय, वैश्य-कर्म की अभिलाषा वाले आठ, ग्यारह और बारह वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत न ले सकें तो वे सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष की आयु तक भी यज्ञोपवीत प्राप्त कर सकते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यज्ञोपवीत एक प्रमाण-पत्र मात्र है जो किसी के जन्म के साथ सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् योग्यता के साथ सम्बन्ध रखता है।

एक अन्य बात लिख दी गयी है कि यदि कोई ब्राह्मण कुमार सोलह वर्ष की आयु तक तथा क्षत्रिय बालक बाईस वर्ष तक की आयु तक और वैश्य बालक चौबीस वर्ष की आयु तक यज्ञोपवीत ग्रहण न कर सके तो वह व्रात्य अर्थात् जातिच्युत हो निन्दनीय हो जायेगा। इससे भी यही प्रकट होता है कि यज्ञोपवीत एक प्रकार का प्रमाण-पत्र था जो योग्यों को दिया जाता था और वह योग्यता प्राप्त करने की शिक्षा बहुत छोटी अवस्था से ही आरम्भ कर दी जाती थी। उस शिक्षा को आरम्भ करते समय बालक के जीवन-कार्य की कामना मुख्य थी और जो उस कामना के योग्य प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर लेता था, उसे यज्ञोपवीत देकर द्विज की पदवी दे दी जाती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त समावर्तन संस्कार से बनाये जाते थे।

उक्त पूर्ण कथन से हमारा प्रयोजन यह है कि आश्रम-व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ण-व्यवस्था की जन्मदाता है। वर्ण-व्यवस्था से आश्रमों की व्यवस्था नहीं होती।

शूद्र उसको कहते हैं जो कि प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने पर भी यज्ञोपवीत प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त न कर सके। यहाँ तक छूट दे दी गयी है कि कोई बालक किसी की भी सन्तान हो और आठ, ग्यारह तथा बारह वर्ष की आयु तक और विशेष परिस्थितियों में सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष तक भी यज्ञोपवीत ग्रहण न कर सके तो वह शूद्र होता है। शूद्र के साथ वह निन्दनीय भी माना जाता है।

सामान्य रूप में शिक्षा पच्चीस वर्ष की आयु तक चलनी चाहिए। जो लोग पूर्ण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते, उनके लिए विधान है कि वे शिक्षा को पहले भी समाप्त कर सकते हैं और जीवनोपयोगी कार्य में लग सकते हैं। ऐसे भी लोग मिल सकते हैं जो पच्चीस वर्ष की आयु के उपरान्त भी विशेष शिक्षा में संलग्न रहने की इच्छा और सामर्थ्य रखते हों, वे शिक्षा में लीन रह सकते हैं।

विवाह का सम्बन्ध शिक्षा से नहीं है। यह शरीर की योग्यता पर निर्भर करता है। इस पर भी इतना स्पष्ट है कि विद्यार्थी-जीवन में विवाह न किया जाये तो उचित है। पच्चीस वर्ष के उपरान्त व्यक्ति विद्यार्थी रहता हुआ भी विवाह कर सकता है और यदि कोई जीवन-भर विवाह न करना चाहता हो तो किसी प्रकार का आदेश नहीं है कि विवाह किया ही जाये।

विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति और गृहस्थ-जीवन का पालन है। गृहस्थ-जीवन में पंच महायज्ञ मुख्य माने गये हैं। यदि पंच महायज्ञों की व्याख्या किंचित् उदारता से की जाये तो जीवन के पूर्ण कार्य इनमें आ जाते हैं। पूजा-पाठ, ध्यान-चिन्तन से लेकर सन्तानोत्पत्ति, धनोपार्जन तथा अन्य जीवन के कार्य इन पंच महायज्ञों में समा जाते हैं।

यज्ञ से अभिप्राय है लोक-हितार्थ कार्य। यदि लोक में अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यों के साथ अपने को भी समझ लिया जाये और उन सब के लिये कार्य किया जाये तो वह कार्य यज्ञ कहलाता है।

उदाहरण के रूप में एक अन्न का व्यवसायी अन्न का व्यवसाय करता है। इसमें सन्देह नहीं कि वह व्यापार से लाभ उठाता है। इस पर भी यदि उस व्यापार से उसका अभिप्राय ग्राहकों को ठीक प्रकार का और उचित दाम पर माल प्राप्त कराना हो तो यह यज्ञ ही होगा। इसी प्रकार जीवन का प्रत्येक कार्य, अपने को लाभ पहुँचाता हुआ दूसरों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से किया जा सकता है और यह कार्य यज्ञ-कार्य होगा।

यज्ञ पाचँ प्रकार के हैं—

1 ब्रह्म यज्ञ—वेद का अध्ययन और अध्यापन और अध्यापन-कार्य इसके अन्तर्गत है।

2 पितृ यज्ञ—अपने बड़ों (जीवित अथवा मृत) के प्रति श्रद्धा और आदर रखना।

3 देव यज्ञ— इसमें संसार की दिव्य शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना, उस ज्ञान का प्रयोग करना और उससे अपना तथा मनुष्यों का कल्याण करना। इसे होम करना भी कहते हैं।

4 बलिवैश्य देव यज्ञ—इसे भूत यज्ञ भी कहते हैं। भूत का अर्थ प्राणी है और प्राणियों में मनुष्य भी आ जाते हैं और जीव-जन्तु भी आते हैं। सबके हित के लिए कार्य करने को भूत यज्ञ कहते हैं।

5 अतिथि यज्ञ—अपरिचित और बिना नियत समय दिन में आने वाले अतिथि की सेवा-शुश्रूषा करना इसमें माना जाता है। इसमें ही दान-दक्षिणा इत्यादि कार्य भी आ जाते हैं।

गृहस्थ आश्रम को अन्य तीनों आश्रमों से महान् और अधिक उपकारी माना है। यद्यपि इस आश्रम में मनुष्य जीविकोपार्जन करता है तो भी उक्त कथनानुसार जब यह उपार्जन यज्ञ रूप होकर किया जाता है तो यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्रम अत्यन्त कल्याण करने और मनुष्य को श्रेय का भागी बनाने वाला होता है।

इसके विषय में महाभारत में इस प्रकार लिखा है—

समावृत्तानां सदाचाराणां सहधर्मचर्यफलार्थिना गृहाश्रमो विधीयते। धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्योपलब्धप्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा अद्रिसारगतेन वा। हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत्। (शां० 191-10)

अर्थात्—जब सदाचार का पालन करने वाला ब्रह्मचारी विद्याध्ययन कर गुरुकुल से स्नातक होकर लौटता है और यदि वह सहधर्मिणी के साथ रहकर धर्माचरण करने और उसका फल पाने की इच्छा रखे तो वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे। इस आश्रम में धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है। इसलिये, त्रिवर्ग साधन की इच्छा रखकर गृहस्थी को उत्तम कर्म के द्वारा धन संग्रह करना चाहिये। अर्थात् वह स्वाध्याय से प्राप्त हुई विशिष्ट योग्यता से और ब्रह्मर्षियों द्वारा धर्म शास्त्रों में निश्चित किये हुए मार्ग से अथवा पर्वतों से उपलब्ध और उसके सार भूत मणि-रत्न, दिव्य ओषधि एवं स्वर्ण आदि से धन संचय करे और हव्य (यज्ञ), कव्य (दान-दक्षिणा), नियम, वेदाभ्यास तथा देवताओं की प्रसन्नता से प्राप्त धन के द्वारा पुरुष अपनी गृहस्थी का निर्वाह करे।

वाणप्रस्थ आश्रम तो स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान को मार्जन करने का काल है। ऐसा कार्य प्राय: घर को छोड़ एकान्तवास करने से सम्भव हो सकता है। इस कारण इसे वाणप्रस्थ आश्रम कहा है।

जीवन का अन्तिम काल सन्यास आश्रम में व्यतीत करे। इसमें अपने पूर्ण जीवन में प्राप्त ज्ञान और अनुभव को पूर्ण रूप से लोकहिताय प्रयोग करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 3 :

सामाजिक कार्य— वर्ण-व्यवस्था—(शिक्षा)

वर्ण-व्यवस्था समाज सम्बन्धी कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिये है। यह हम ऊपर बता चुके हैं कि वर्ण-व्यवस्था मनुष्य के शरीर के ढाँचे पर निर्माण की गई है। वेदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कार्यों की तुलना मनुष्य के भिन्न-भिन्न अंगों के कार्य से की गयी है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान माने जाते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि समाज में वर्ण-व्यवस्था ईश्वरीय विधान के अनुसार है।

यदि यह न भी माना जाये तो भी एक स्वस्थ मनुष्य के शरीर को सुचारु रूप से कार्य करते देख समाज-कार्य को भी उसी प्रकार सुचारु रुप में होते हुए देखने के लिये उसकी नकल करना स्वाभाविक ही है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य की भाँति समाज में भी चार प्रकार के मुख्य कार्य हैं और उन पर नियन्त्रण करने के लिये कोई एक व्यक्ति अथवा संस्था होनी चाहिये और यह हम बता चुके हैं कि मनुष्य-शरीर में आत्मा नियन्त्रण करने वाला होता है और इसी प्रकार समाज में राजा अथवा राष्ट्रपति का होना आवश्यक है।

समाज के चार अंग हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये चार प्रकार के कार्य करते हैं। ब्राह्मण का कार्य है ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करना और उसका पूर्ण लाभ समाज को पहुँचाना। क्षत्रिय का कार्य है समाज के भीतर अथवा बाहर से होने वाले आक्रमणों को निस्तेज करना। वैश्य का कार्य है समाज में धन, संपदा, सुख-साधन इत्यादि को उपलब्ध करना और उनका फल पूर्ण शरीर को पहुँचाना। शूद्र का कार्य है पूर्ण समाज की सेवा करना।

इस प्रकार चारों वर्ण अपना कार्य समाज के लिये करते हैं और इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारों कार्यों का समन्वय करने के लिये आत्मा-स्वरूप राजा अथवा राष्ट्रपति कार्य करता है। मनुष्य-शरीर में आत्मा, मन और इन्द्रियों द्वारा शरीर पर राज्य करता है। इसी प्रकार राजा अथवा राष्ट्रपति राज्य-सत्ता द्वारा पूर्ण समाज के कार्यों का समन्वय करता है। मनुष्य-शरीर में मन और इन्द्रियों का संयोग वात् शिराओं (Nervous-system) द्वारा होता है और समाज में राज्य के कर्मचारी वही कार्य करते हैं।

भारतीय परम्परा के अनुसार समाज के पूर्ण कार्य राजा अथवा राष्ट्रपति और चारों वर्णों द्वारा होते हैं। शरीर में मस्तिष्क ज्ञान संचय करता है और फिर उस संचित ज्ञान का विश्लेषण कर आत्मा के समक्ष उपस्थित करता है। उस ज्ञान के आधार पर आत्मा, मन और इन्द्रियों द्वारा पूर्ण शरीर को लाभ पहुँचाता है। इसी के अनुरूप समाज में ब्राह्मण वर्ग प्रत्येक प्रकार का ज्ञान उपलब्ध करता है और उस ज्ञान की प्राप्ति राजा द्वारा पूर्ण समाज को कराता है। ज्ञान पूर्ण समाज के लाभ के लिए प्राप्त् किया जाता है। अत: ब्राह्मण वर्ण के काम का ठीक-ठीक अनुमान लगाने के लिए समाज की आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा।

समाज की प्रथम आवश्यकता समाज के घटकों का निर्माण है। पीछे आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत हम बता आये हैं कि व्यक्ति के जीवन का प्रथम भाग शिक्षा से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति के जीवन के उस भाग को जिसमें शिक्षा ग्रहण की जाती है, ब्रह्मचर्य आश्रम के नाम से कहा गया है। यों तो मनुष्य जीवन-भर नये-नये अनुभव प्राप्त करता रहता है; इस पर भी जीवन का प्रथम भाग अर्थात् जन्म से लेकर पच्चीस वर्ष की आयु तक , शिक्षा के लिये विशेष उपयुक्त समय माना जाता है। इस अवस्था में शिक्षार्थी को कोई-न-कोई दूसरा व्यक्ति शिक्षा देता ही है। यह व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण का ही होता है। अभिप्राय यह कि ब्राह्मण का सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट कार्य शिक्षा देने का कार्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा-कार्य तब तक नहीं चल सकता जब तक कि शिक्षक अपने ज्ञान को सदैव संवर्धित एवं संशोधित न करता रहे। अतएव यह ब्राह्मण का कर्तव्य हो जाता है कि वह स्वयं अपने ज्ञान की वृद्धि में संलग्न रहे। इसीलिये ब्राह्मण के कर्मों में स्वाध्याय करना और दूसरों को पढ़ाना सबसे प्रथम कर्तव्य माना गया है।

सत्य ज्ञान की उपलब्धि तब ही हो सकती है जब कि ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति विवेकशील हो, अनासक्त प्रवृत्ति वाला हो और पूर्ण समाज के साथ सम-भाव रखने वाला हो। जो व्यक्ति पूर्वग्रहों (prejudices) से ग्रसित होगा, वह विवेकशील नहीं रह सकता। वह ज्ञान उपलब्धि के भी अयोग्य हो जाता है। जब मनुष्य किसी अपने ज्ञान को अन्तिम ज्ञान समझ ले और उस पर किसी दूसरे की विवेचना सुनने के लिये अथवा उस पर मनन करने के लिये तैयार न हो तब वह ज्ञान की प्राप्ति में योग्य नहीं हो सकता। न तो वह अपने ज्ञान को परिमार्जित कर सकता है, न ही उस ज्ञान में कुछ अन्य संचय कर सकता है तथा अपने ज्ञान को भली प्रकार किसी दूसरे को समझा भी नहीं सकता। अत: एक ब्राह्मण के लिये जो शिक्षक का कार्य करता हो, यह आवश्यक है कि वह विवेकशील हो, निस्पृह हो और ज्ञान प्राप्ति में यत्नशील हो।

जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के दोषों से युक्त हो, वह भी ज्ञान प्राप्ति नहीं कर सकता। न ही ऐसा मनुष्य विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ होता है।

कामी का अर्थ है कि सीमा से अधिक कामनायें रखने वाला मनुष्य। ऐसा मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति में लग्न रहता हुआ अपनी ज्ञान वृद्धि के लिये समय ही नहीं पा सकेगा और न ही ऐसा मनुष्य निष्काम भाव से सत्य ज्ञान की प्राप्ति करा सकेगा। इसी प्रकार क्रोधी जीव क्रोध के आवेश में ठीक ज्ञान नहीं दे सकेगा। साथ ही क्रोध में दिया गया ज्ञान विद्यार्थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रभावित नहीं कर सकता। लोभी शिक्षक अपना ज्ञान उसे देगा, जिससे उसे अधिक धन-प्राप्ति होगी। ज्ञान देने के लिये विद्यार्थी की योग्यता माप-दण्ड नहीं रह जायेगी, वरन् विद्यार्थी के अभिभावकों की धन-समपदा माप-दण्ड बन जायेगा । मोह में फँसे हुए अध्यापक का माप-दण्ड भी धन-सम्पदा रह जायेगा। ऐसा अध्यापक भी योग्य शिक्षार्थी को उचित शिक्षा नहीं दे सकेगा। जो विद्यार्थी उसको प्रिय होंगे, उन ही को प्रेम से वह पढ़ा सकेगा और दूसरे विद्यार्थी जो उसके प्रेम के पात्र नहीं बने अथवा उसके मोह की परिधि में नहीं आये; वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार अहंकारयुक्त अध्यापक भी न तो स्वयं ज्ञान में वृद्धि कर सकेगा और न ही वह किसी को अपना ज्ञान भली भाँति दे सकेगा। ईर्ष्या अहंकार की पुत्री है। अतएव अहंकारमय अध्यापक सदा इस बात को देखता रहेगा कि उसका कोई विद्यार्थी उससे अधिक ज्ञानवान् न हो जाये।

अतएव समाज निर्माण के लिये व्यक्तियों का निर्माण आवश्यक है और व्यक्तियों के निर्माण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम बहुत महिमा रखता है। विद्यार्थी जीवन में शिक्षक का बड़ा महत्व है। इस कारण समाज में शिक्षक वर्ग एक अति श्रेष्ठ विद्वानों का समुदाय होना चाहिये। दूसरे शब्दों में जिस समाज में ब्राह्मण वर्ण और उनमें शिक्षक वर्ण अति श्रेष्ठ, सद्चरित्र, शुद्ध स्वभाव और संस्कार वाले नहीं होंगे, उस समाज का कल्याण सम्भव नहीं है।

भारतीय परम्परा में ब्राह्मण की बहुत महिमा वर्णन की गई है और समाज के ऐसे श्रेष्ठ वर्ण के अधिकार और मान-प्रतिष्ठा भी बहुत अधिक होनी चाहिये। स्मृति शास्त्र में ऐसा लिखा है कि यदि कोई राजा हाथी पर सवार कहीं जा रहा हो और सामने से कोई विद्वान् ब्राह्मण पैदल आ रहा हो, तो राजा को चाहिये कि हाथी से उतर कर ब्राह्मण के चरण स्पर्श करे। यह है कल्पना एक ब्राह्मण के सम्मान की भारतीय समाज में।

प्राचीन ग्रन्थों में अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि ब्राहाण किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा के पास किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये गया तो राजा ने निस्संकोच भाव से उसकी आवश्यकता पूर्ण की। रामायण की कथा इस बात से आरम्भ होती है। महर्षि विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिये महाराज दशरथ के पास उसके प्रिय पुत्र राम और लक्ष्मण को माँगने जाते हैं। यज्ञ की रक्षा में अति भय है। भयंकर राक्षसों से युद्ध की सम्भावना है और महाराज दशरथ अपने पुत्रों को भेजने में संकोच अनुभव करते हैं। परन्तु जब परिवार के पुरोहित महर्षि वसिष्ठ से सम्मति की जाती है तो राजकुमारों को भेजने की बात माननी पड़ती है।

एक अन्य उदाहरण भी मिलता है जब एक ब्राह्मण कुमार अपने गुरु को दक्षिणा देने के लिये एक राजा की महारानी के कुण्डल माँगने जाता है। राजा निस्संकोच भाव में ब्राह्मण स्नातक की सेवा-शुश्रूषा करता है और रानी से कुण्डल लेकर उसे दे देता है।

भारतीय समाज में ब्राह्मणों की बहुत महिमा है और ब्राह्मणों में अध्यापकों की अथवा आचार्यों की महिमा सर्वाधिक है। अतएव ब्राह्मणों को अथवा समाज में शिक्षित वर्ग को किसी राजा अथवा राज्य से सेवक-रूप में नियुक्त करना अति निन्दनीय माना गया है। महाभारत में से एक उद्धरण का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। लिखा है कि जो ब्राह्मण किसी राजा की नौकरी करे, उसे जातिच्युत समझ शूद्र मान लिया जाये। इसका अभिप्राय यह है कि समाज में शिक्षा-कार्य राज्याधीन नहीं होना चाहिये। भारतीय समाज की सर्वप्रथम और सर्वोत्तम बात यह है कि शिक्षा-संस्थान पूर्ण रूप से राजा, राज्य अथवा राजनीतिक प्रभाव से स्वतंत्र होने चाहियें।

यह कैसे हो सकेगा? इसकी योजना सब कालों के लिये समान तो नहीं हो सकती। मनुष्य-समाज की स्थितियाँ बदलती रहती हैं। मनुष्य समाज में भिन्न-भिन्न वर्ण और वर्ग उपस्थित हैं। उनमें भी शिक्षा का विधि-विधान पृथक्-पृथक् होता है, परन्तु जो बात अनिवार्य रूप में होनी चाहिये, वह इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कण्डिका में लिख दी गयी है। शिक्षा-संस्थान् की एक संक्षिप्त-सी व्याख्या आगे चलकर देंगे।

: 4 :

सामाजिक कार्य—वर्ण-व्यवस्था— (सुरक्षा)

शिक्षा कार्य से उतर कर समाज का दूसरा कार्य है इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध। सुरक्षा का अर्थ समाज के शत्रुओं से इसकी रक्षा है। वे शत्रु समाज के भीतर भी हो सकते हैं और समाज के बाहर भी।

जब हम मनुष्य-समाज का चिन्तन करते हैं तो समाज के भीतर के शत्रुओं में वे सब शक्तियाँ एवं व्यक्ति आ जायेंगे जो मनुष्य को काम और मोह में फँसाने वाले हों। यह हम बता चुके हैं कि मनुष्य-समाज किसी समय इतना श्रेष्ठ था कि बिना राजा और राज्य के धर्मानुसार व्यवहार करता था और सब मनुष्य परस्पर धर्म से एक-दूसरे की रक्षा करते थे। तब काम और मोह मनुष्य के नियन्त्रण में थे और जब काम और मोह का प्राबल्य हुआ तो समाज में पतन आरम्भ हुआ। इस पर काम और मोह में ग्रसित बलवान व्यक्ति छीना-झपटी करने लगे। अतएव काम और मोह मानव-समाज के घोर शत्रु हैं। जो शक्ति तथा नियमोपनियम एवं मानव-समाज के व्यवहार में काम और मोह उत्पन्न करेंगे, वे सब समाज के शत्रु माने जायेंगे।

किसी देश में अथवा बिना देश के कोई भी समुदाय हो, यह मानव समाज का एक अंग ही होगा और मानव-समाज के शत्रु उस समाज के भी शत्रु होंगे। अभिप्राय यह है कि उस समाज के भीतर के शत्रुओं में वे शत्रु भी हैं, जिनका उल्लेख हमने मानव-समाज के शुत्रओं में लिखा है। इनसे रक्षा समाज का एक आवश्यक कार्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज के भीतर के शत्रु काम और मोह की उपज ही होते हैं, परन्तु समाज के बाहर के शत्रु काम और मोह से पीड़ित मानवों के अतिरिक्त दैवी शक्तियाँ भी हैं। कभी-कभी किसी समाज पर काम और मोह से पीड़ित दूसरे समाज वाले भी आक्रमण करते हैं। प्राय: यह देखा जाता है कि एक देश के लोग दूसरे देश पर आक्रमण करते हैं। इसमें कारण आक्रमण करने वाले देश की समाज का काम और मोह से प्रेरित होना है। आक्रान्ता देश में काम और मोह की वृद्धि भी उसी प्रकार होती है जैसी कि हम मानव-समाज में काम और मोह की वृद्धि बता चुके हैं।

इस बात को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। सन् **1933** में एडॉल्फ हिटलर जर्मनी में चान्सलर बन गया। चान्सलर बनते ही उसने जर्मन जाति को अपना समर्थक बनाने के लिये उसमें कामनायें और मोह की वृद्धि करनी आरम्भ कर दी। उसने यह कहा कि जर्मन जाति संसार-भर की सब जातियों से श्रेष्ठ है और यह परमात्मा की ओर से संसार पर राज्य करने के लिये बनी है। जर्मन जाति को उसने 'आर्यन' जाति की सन्तान बताया और यह कहा कि आर्य लोग सदैव संसार पर राज्य करते रहे हैं। जब से इन्होंने आर्यत्व को छोड़ा है तब से ही यह जाति हीन-दीन और पद-दलित हो गई है। इस कारण आर्य सन्तति के लोगों को संगठित हो जाना चाहिये और उनको शक्ति संचय करके संसार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेना चाहिये। संसार के सब सुख और भोग जर्मन जाति के लिये हैं और यह उन्हें तब प्राप्त होंगे, जब वे संगठित होकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करेंगे।

हिटलर के इस वक्तव्य ने जर्मन जाति के घटकों में उग्र कामनायें उत्पन्न कर दीं और परिणामस्वरूप द्वितीय विश्व युद्ध हुआ जो सन् **1939** से आरम्भ होकर सन् **1945** में समाप्त हुआ। इस युद्ध में फ्रांस, बैल्जियम, हॉलैण्ड, नॉर्वे, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, पोलैण्ड और बहुत-सा भाग रूस का विनष्ट हुआ। इनके अतिरिक्त जापान, इण्डोचायना, मलाया, बर्मा में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपार विनाश हुआ। अमेरिका को भी युद्ध में अपने युवकों का बलिदान करना पड़ा। यह सब हुआ जर्मन जाति में काम और मोह में वृद्धि के कारण।

जब किसी व्यक्ति में काम और मोह की वृद्धि होती है तो उससे हानि एक अति सीमित क्षेत्र में होती है, परन्तु जब काम और मोह में वृद्धि किसी परिवार, समुदाय और जाति में होती है तो होने वाली हानि का परिणाम और तीव्रता भी बढ़ जाती है। यदि इतिहास को गम्भीर दृष्टि से पढ़ा जाये तो यह पता चलेगा कि प्रत्येक कलह-क्लेश, झगड़े अथवा युद्ध में काम और मोह से ग्रसित मनुष्य ही कारण हुए हैं।

अतएव किसी देश की सुरक्षा बाहरी देशों से करने के लिये इस महाभोगी काम को नियन्त्रण में करना चाहिये। अतृप्त काम क्रोध उत्पन्न करता है और जब क्रोध के साथ रजोगुण का समावेश होता है तो यह महा विनाशकारी बन जाता है।

इस सम्बन्ध में भगवद्गीता में इस प्रकार लिखा है-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धि एनमिह वैरिणम्।।

(भ०गी०—3-37)

अर्थात्—रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध महाविनाशकारी, महान् पाप करने वाले होते हैं। इनसे बचना चाहिये।

जब काम और मोह का प्रकोप किसी ऐसे पुरुष पर हो जो कहने से न माने तो झगड़ा, लडाई, युद्ध इत्यादि होते हैं। ऐसी अवस्था में किसी देश अथवा जाति को किसी कामी जाति के क्रोध से बचने के लिये संभावित युद्ध की तैयारी रखनी पड़ती है।

इस कारण किसी समाज में सुरक्षा का प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक होता है। समाज के भीतर उन तत्त्वों को जो काम अथवा मोह-ग्रसित हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं, एक सीमा तक शिक्षा से सीधी राह पर लाया जा सकता है। शिक्षा के साथ-साथ समाज के घटकों की उचित कामनाओं की तृप्ति का प्रबन्ध भी किया जाता है। इससे भी सीमा तक काम शान्त रहता है; परन्तु ये दोनों उपाय एक सीमा तक ही समाज के घटकों की कामनाओं को शान्त रख सकते हैं। पूर्ण रूप से समाज में बढ़ी हुई कामनाओं को तृप्त नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि कामनाएँ असीम हैं और साधन, सम्पन्न-से-सम्पन्न जाति के भी, असीम नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में जब समाज के घटकों में कामनायें सीमा से अधिक होने लगें तो बल प्रयोग करना पड़ता है। इस बल के अनुरूप ही समाज में धर्म-व्यवस्था निर्माण की जाती है और उस धर्म-व्यवस्था को लागू करने के लिये दण्ड-विधान और न्यायालयों की स्थापना की जाती है।

जब किसी देश के बाहर की समाज के किसी व्यक्ति, समुदाय अथवा जाति में कामनाओं की वृद्धि हो जाये तो समझने-समझाने से कुछ अधिक लाभ नहीं होता। प्राय: शिक्षा और प्रेरणा असफल होती हैं। इस अवस्था में युद्ध ही ऐसा उपाय है, जिससे बाहरी समाज को अपनी कामनाओं और मोह को सीमित करने पर विवश किया जा सके।

अत: समाज की सुरक्षा में सेना, अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-कला का बड़ा महत्व है।

युद्ध-कला में क्षात्र-प्रवत्ति के लोग ही भली-भाँति काम कर सकते हैं। क्षात्र-प्रवृत्ति के लोग युद्ध करने में रुचि लेते हैं और युद्ध की कठिनाइयों से पलायन न करने का स्वभाव रखते हैं। ये लोग क्षत्रिय वर्ण की प्रवृत्ति (गुण, कर्म और स्वभाव) वाले लोग ही हो सकते हैं।

क्षत्रिय वर्ण की मानव-शरीर की बाँहों से तुलना की गई है। जैसे बाहें कर्म करने के लिये सदैव तैयार रहती हैं, वैसे ही क्षत्रिय वर्ण के लोग भी कर्म करने के लिये तैयार रहते हैं। ये कर्म करने से न तो डरते हैं और न ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कठिनाई देखकर पलायन करते हैं। इनके स्वभाव के विषय में भगवद्गीता में यह लिखा है—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
(18-31)

अर्थात्— धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को इस (राजसी) बुद्धि के लोग नहीं जानते। (ये कर्म के लक्ष्य को जानते हैं।)

इसका अभिप्राय यह है कि राजसी प्रवृत्ति के लोग कर्म करना जानते हैं, परन्तु कर्म और अकर्म, धर्म और अधर्म में भेद नहीं कर सकते। एक शरीर में भी बाहें कर्म ही करती हैं, परन्तु कौनसा कर्म करना चहिये और कौनसा नहीं करना चाहिये, यह विचार करना मस्तिष्क का कार्य है। इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण के लोग कर्म तो करते हैं, परन्तु इनके कर्म की व्यवस्था समाज का मस्तिष्क अर्थात् ब्राह्मण वर्ण ही कर सकता है।

अतः समाज की सुरक्षा का कार्य दो प्रकार का है। एक है प्रेरणात्मक। यह कार्य ब्राह्मण वर्ण के (विद्वान) लोग ही करते हैं। दूसरे प्रकार का कार्य है दण्ड-विधान अथवा युद्ध-विधान। यह कार्य क्षत्रिय ही कर सकते हैं, परन्तु इनके कार्य की दिशा ब्राह्मण वर्ग को ही देनी चाहिये। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि क्षत्रिय वर्ग का प्रमुख राजा अथवा राज्य ब्राह्मणों के अधीन होना चहिये।

परन्तु यह कैसे हो सकेगा? ब्राह्मण तो शम, दम, तप और शान्ति का व्यवहार रखने वाले होते हैं और क्षत्रिय इनके अधीन कार्य नहीं कर सकेंगे वश में हो तो वे ब्राह्मणों की हत्या ही कर दें। इस विषय में व्याख्या से हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिये कि क्षत्रिय वर्ग समाज की सुरक्षा का कार्य करता है और समाज की सुरक्षा का कार्य अत्यावश्यक है। इसके बिना समाज जीवित ही नहीं रह सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 5 :

सामाजिक कार्य—वर्ण व्यवस्था—(धर्म-व्यवस्था)

धर्म-व्यवस्था का अर्थ धर्म की स्थापना है। धर्म की स्थापना के सम्बन्ध में समझने से पूर्व धर्म को समझ लेना अत्यावश्यक है।

करणीय कर्म को धर्म कहते हैं। धर्म मुख्य रुप में दो प्रकार क हैं। व्यक्तिगत धर्म और समष्टिगत धर्म। व्यक्तिगत धर्म वे हैं, जिनका कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य किसी पर प्रभाव न हो। उदाहरण के रुप में शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि धर्म है। इसका सीधा सम्बन्ध कर्त्ता के अपने साथ ही होता है। शौच का एक रूप ऐसा भी है, जिसका सम्बन्ध कर्त्ता के अतिरिक्त जनों पर भी होता है।उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति अपने घर का कूड़ा-कर्कट निकाल कर बाहर सड़क पर फैंक देता है। यह अशुद्धि का काम कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य पर भी प्रभाव उत्पन्न करने वाला हो सकता है।

एक अन्य उदाहरण दिया जा सकता है। धृति (धैर्य रखना) धर्म है। धैर्य का अर्थ किसी कठिनाई के समय अधीर न होना है। किसी के पिता का देहान्त हो जाता है और पुत्र पिता के शोक में आत्म-हत्या कर लेता है। ऐसे का प्रभाव कर्त्ता पर ही होता है। अत: धृति अर्थात् धैर्य रखना व्यक्तिगत धर्म है। इसी प्रकार के अन्य भी कई कार्य हो सकते हैं, जिनका प्रभाव केवल मात्र कर्त्ता पर ही होता है। ये व्यक्तिगत धर्म कहलाते हैं।

समष्टिगत कर्म वे होते है जिनकी गति अर्थात् प्रभाव करने वाले के अतिरिक्त अन्य लोगों पर भी हो। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति झूठ बोलता है। झूठ बोलना अर्धम है और इसका प्रभाव जिसके साथ झूठ बोला जाये, उस पर भी होता है। इसी प्रकार चोरी करना अधर्म है। इस अधर्म का प्रभाव करने वाले के अतिरिक्त अन्य पर भी होता है। एक और उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लें। मन को संयम में रखना एक धर्म है। इसको दम कहते हैं। एक रोगी के सामने मिठाई की भरी तश्तरी रखी है। रोगी का अपने मन पर संयम रखना आवश्यक है। वह संयम नहीं रखता और मिठाई खाने लगता है। इस प्रकार वह दम धर्म का उल्लंघन करता है। परन्तु इस अधर्माचरण का फल करने वाले पर ही होता है, किसी दूसरे पर नहीं। यह व्यक्तिगत धर्म है।

इसके विपरीत एक अन्य धर्म है इन्द्रिय-निग्रह। अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना। उनको कोई अनुचित कार्य न करने देना। इस धर्म के उल्लंघन से कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य पर भी प्रभाव पड़ता है। एक मनुष्य कामाभिभूत हो किसी पर-स्त्री से दुराचार करता है। यह कर्म समष्टिगत धर्मों में आता है।

व्यक्तिगत धर्म प्रेरणा से रोके जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति मद्य का सेवन करता है। मद्य सेवन से शरीर में कई प्रकार के ह्रास होते हैं, परन्तु इनका प्रभाव केवल कर्त्ता पर ही होता है। किसी को मद्य-सेवन से रोकने के लिए प्रेरणा ही उपयुक्त उपाय है। अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत अधर्माचरण का विरोध प्रेरणा से ही होता है और होना चाहिये, परन्तु समष्टिगत अधर्म अर्थात् वे अधर्म जिनका प्रभाव कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य पर भी होता है, जहाँ प्रेरणा का क्षेत्र है वहाँ प्रेरणा के अतिरिक्त दण्ड का क्षेत्र भी है।

एक बालक चोरी करता है। उसको उसके माता-पिता समझाते हैं। परन्तु वह नहीं मानता। माता-पिता उसको दण्ड भी देते हैं परन्तु इस पर भी वह नहीं समझता। ऐसी अवस्था में समाज उसके लिये दण्ड निश्चय करता है। यह समाज का कर्तव्य हो जाता है कि समष्टिगत अधर्मों को रोकने के लिये वह व्यवस्था करे। इस व्यवस्था का नाम ही धर्म-व्यवस्था है।

धर्म-व्यवस्था के विस्तृत अर्थों में व्यक्तिगत धर्मों में भी धर्म-शास्त्र ही व्यवस्था देता है, परन्तु यह व्यवस्था समाज के साथ सम्बन्ध नहीं रखती। समाज तो उन अधर्मों को रोकने की व्यवस्था ही कर सकता है जो कर्त्ता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त दूसरों पर प्रभाव डालते हैं।

प्रेरणा का कार्य तो माता-पिता, स्कूल-कॉलेज अथवा इसी प्रकार के अन्य संस्थान् करते हैं; परन्तु समाज के कर्मों में जब हम धर्म-व्यवस्था का नाम लेंगे तो उसे दण्ड-विधान कहेंगे।

समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह धर्म का स्वरूप वर्णन करे और उस स्वरूप में धर्म के विपरीत कार्य करने वालो के लिये दण्ड निश्चय करे। उदाहरण के रूप में भारतीय दण्ड-विधान की धारा **378** इस प्रकार है—
"Whoever, intending to take dishonestly any moveable property out of the possession of any person without that person's content, moves that property in order to such taking, is said to have commited theft."

अर्थात्—जो कोई किसी उठा ले जाने वाली सम्पत्ति को अन्याय से सम्पत्ति के स्वामी की स्वीकृति के बिना अपने अधिकार में कर लेता है और उसको उठाकर ले जाता है, ऐसा ले जाने को चोरी करना कहते हैं।

ये है चोरी की रूप-रेखा। इसके अनुरूप चोरी करने वाले के लिये दण्ड का विधान किया है—
"Whoever commits theft shall be punished with imprisonment of either description to a term which may extend to three years, or with fine, or with both."

अर्थात्—जो कोई चोरी करता है, उसे तीन वर्ष तक कैद का दण्ड या जुर्माना या दोनों दण्ड दिये जा सकते हैं।

यह है धर्म-व्यवस्था का दण्ड-विधान।

इसी प्रकार अन्य अधर्मों में भी होता है। जब अधर्माचरण करने वाला प्रेरणा से न समझे तब दण्ड-विधान कार्य करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके दो अंग हैं। एक है अधर्म करना और दूसरा उस स्वरूप के अनुरूप अधर्म करने वाले के लिए दण्ड का निश्चय करना। यह है समाज की धर्म -व्यवस्था।

एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि समष्टिगत धर्मों का विरोध करने वालों के लिए अधर्म का स्वरूप वर्णन करना और उसके लिये दण्ड नियत करना।

इस व्यवस्था को बनाने के लिए धर्मशास्त्री ही उपयुक्त व्यक्ति हैं। ये धर्मशास्त्री कौन हों, इनको कौन नियुक्त करे, यह आगे चलकर बतायेंगे।

इतना समझ लेना चाहिये कि समाज की दण्ड-व्यवस्था अर्थात् दण्ड-विधान किसी अधर्मी पर किसी अत्याचार का सूचक नहीं और न ही यह किसी अधर्मी को सुधारने के लिये निर्माण किया जाता है। अधर्मी का सुधार करना समाज अथवा राज्य का सामूहिक कार्य नहीं है। यह अधर्म करने वाले के सम्बन्धी अथवा उसके शिक्षक, धार्मिक गुरु इत्यादि लोगों का कार्य है। राज्य दण्ड-विधान का निर्माण इस कारण भी नहीं करता कि अधर्माचरण करने को कष्ट पहुँचाना उसका लक्ष्य है। राजकीय दण्ड-विधान का उद्देश्य केवल मात्र यह होता है कि धर्मानुकूल रहने वाले समाज के घटकों की अधर्माचरण करने वालों से रक्षा की जाये।

जब किसी व्यक्ति को कैद का दण्ड दिया जाता है तो वह इस कारण कि समाज के भले अंश की उससे रक्षा की जाये। मृत्यु-दण्ड का भी यही अर्थ है। जब कोई व्यक्ति इतनी दुष्ट प्रवृत्ति का हो जाये कि वह बार-बार दण्ड दिये जाने पर भी अपनी दुष्टता को न छोड़े, तब समाज के क्षेष्ठ अंश की रक्षा के लिये ऐसे व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड दे देना चाहिये। इसका अर्थ यह होगा कि बार-बार चोरी करने वाले को भी मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है और पहली बार किसी की हत्या करने वाले को भी मृत्यु दण्ड देना आवश्यक नहीं। इसी प्रकार अन्य अपराधों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 6 :

सामाजिक कार्य—वर्ण व्यवस्था—(राज्य-व्यवस्था)

राज्य देश में शान्ति-व्यवस्था (Law and order) रखने के लिये है। शान्ति-व्यवस्था रखने क दो उपाय हैं। एक प्रेरणात्मक और दूसरा प्रशासनात्मक।

प्रेरणात्मक उपायों का अभिप्राय यह है कि ऐसी व्यवस्था की जाये जिससें समाज के घटकों को दुर्व्यवस्था अर्थात् अराजकता उत्पन्न करने की प्रवृत्ति ही न हो। उदाहरण के रूप में एक नगर में सड़क के किनारों पर पैदल चलने के लिये फुटपाथ नहीं बना। इस कारण पैदल चलने वाले सड़क के किनारे चलते हुए सड़क के बीच में भी हो सकते हैं और तब किसी मोटरगाड़ी के नीचे आकर कुचले जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोष चलने वालों का है, परन्तु पैदल चलने के लिये पृथक् स्थान न होने के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि पैदल चलने वालों और गाड़ियों का रास्ता एक हो गया। इसी प्राकर चौराहों पर अथवा सड़क को पार करने के स्थान पर यदि एक निश्चित व्यवस्था न हो और उसका ज्ञान लोगों को न कराया जाये तो यह अशान्ति और अराजकता का अवसर उत्पन्न कर देगा।

परन्तु अराजकता अथवा अशान्ति का अवसर उत्पन्न न करना एक बात है और जनता को प्रेरणा देना कि वे नियमों का पालन करें, जिन नियमों के अनुसार किसी भीड़ वाले नगर में मोटर गाड़ियों अथवा पैदल चलने वालों को चलना चाहिये, दूसरी बात है। पहला कार्य शासन का कर्त्तव्य है और दूसरा शिक्षकों का। और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। समष्टिगत धर्म का पालन करना मनुष्य को स्वयमेव सीखना चाहिये। इसकी शिक्षा बालक के माता-पिता अथवा विद्यालयों के शिक्षकों से प्राप्त की जा सकती है। यह शिक्षणालयों का काम है कि समाज के घटकों को समष्टिगत एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत, दोनों प्रकार के धर्मों का ज्ञान कराएँ और बताएँ कि धर्मों के पालन करने से उसका अपना कल्याण किस प्रकार और कितना होगा अथवा धर्म का उल्लंघन करने से उसे क्या-क्या कष्ट हो सकता है। कुछ एक बातों में बालकों को स्वभाव डालने की भी आवश्यकता होती है। यह स्वभाव डालना माता-पिता एवं शिक्षणालयों में शिक्षकों का कर्तव्य है। यह कर्तव्य प्रशासन अथवा राज्य का नहीं है।

राज्य एक शिक्षण संस्था नहीं है। यह प्रशासन संस्था है। यदि राज्य एक शिक्षण संस्था बन जाये तो परिणाम भयंकर हो सकते हैं। तब शिक्षा शासन के सुभीते के लिये होने लगेगी। मान लें किसी नगर का राज्य चोरों पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। दुर्बल शासन चोरी रोकने के लिये यह व्यवस्था कर सकता है कि भले लोग रात को घर से बाहर न निकलें अथवा घर में कुछ नकदी इत्यादि न रखें, सब सरकार के पास अथवा बैंकों में जमा करवा दें; कोई भूषण इत्यादि न पहने और न ही अपने पास रखे; जेब में न्यूनातिन्यून आवश्यकता के लिये धन रखें इत्यादि। इसी प्रकार की बातें आज के काल में देखी जाती हैं। एक समय दिल्ली प्रशासन से यह माँग की गयी थी कि सिनेमा-घरों में दोपहर का प्रर्दशन बन्द कर दिया जाये; क्योंकि विद्यार्थी स्कूलों से भाग कर सिनेमा देखने चले जाते हैं। यह एक उसी प्रकार की बात है जिसमें यह माँग की जाये कि चोरों को चोरी करने से रोकने के लिये सब भले लोगों की सम्पत्ति बटोर कर राज्य-बैंक में रखा दी जाये अथवा किसी को सम्पत्ति रखने ही न दी जाये।

धर्म-व्यवस्था में प्रेरणात्मक कार्य राज्य का नहीं होना चाहिये। एक और उदाहरण लीजिये। यह कहा जाता है कि पूँजीपति पूँजी रखने के कारण अनुचित मात्रा में लाभ उठाता है। इस कारण समाजवादी यह कहते हैं कि किसी को पूँजी रखने की स्वीकृति न हो। अब एक और विचार उपस्थित किया जा रहा है कि सम्पत्ति रखना वर्जित कर दिया जाये। यह इसलिये कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पत्ति का एक व्यक्ति दुरुपयोग कर सकता है। उस दुरुपयोग को राज्य रोक नहीं सकता। इस कारण सम्पत्ति रखना ही वर्जित कर दिया जाये। ये सब बातें शासन के अधीन शिक्षा-कार्य करने का परिणाम हैं।

शिक्षा में धर्म-व्यवस्था भी आती है और धर्म-व्यवस्था के पालन करने की प्रेरणा भी आती है। राज्य ये दोनों बातें नही कर सकता। यदि ये दोनों बातें अर्थात् धर्म के स्वरूप का वर्णन और उस स्वरूप के अनुसार आचरण करने की प्रेरणा राज्य के हाथ में दे दी जाये तो राज्य अपनी प्रशासकीय सुविधाओं के लिये इन दोनों के स्वरूप को विकृत कर देगा।

राज्य दो कार्य करेगा। एक तो धर्म-व्यवस्था क्या है, की घोषणा करेगा। अर्थात् वह दण्ड-विधान जिसमें अधर्म और धर्म के स्वरूप का वर्णन किया है, प्रकाशित कर जनता को बतायेगा और दूसरे, धर्म के स्वरूप के विपरीत आचरण करने वालों को दण्ड-विधान के अनुसार दण्ड देगा। यह हम बता चुके हैं कि दण्ड-विधान में दण्ड का उद्देश्य किसी अपराधी को कष्ट पहुँचाना अथवा उससे बदला लेना नहीं है, वरन् श्रेष्ठ नागरिकों की उससे रक्षा करना है। राज्य का एक और कार्य भी है। यह देश की अन्य देशों से रक्षा करना है। सिद्धान्त से कार्य वही है जो देश के भीतर शान्ति-व्यवस्था रखने के लिये वर्णन किया है। विदेशों के साथ व्यवहार को अन्तर्राष्ट्रीय धर्म-व्यवस्था कहा जाता है। उस धर्म-व्यवस्था को स्वीकार करके उसके अनुसार स्वयं कार्य करना और दूसरों से कार्य कराने की व्यवस्था करना, विदेशों से अपने देश की रक्षा का प्रबन्ध करना है।

कोई पड़ोसी देश सीमोल्लंघन करता है। अत: उससे अपने देश की सीमा की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है।

प्रत्येक देश दूसरे देशों के साथ अपने व्यवहार का निश्चय करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय नियममोपनियम (International Laws) के अतिरिक्त है। उदाहरण के रूप में अपने देश का कोई नागरिक जब दूसरे देश में जाता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा उस देश का नागरिक अपने देश में आता है तो किसी प्रकार के व्यवहार का निश्चय किया जाता है। यदि कोई विदेश निश्चित व्यवहार से हटकर व्यवहार करता है तो उसमें अपने नागरिकों की रक्षा के लिये प्रत्येक प्रकार का उपाय करना राज्य का कर्तव्य है।

अतएव राज्य का कर्तव्य देश में शान्ति-व्यवस्था स्थापित रखना और देश के बाहर अन्य देशों के साथ शान्ति की व्यवस्था रखने का उपाय करना है। देश में नागरिकों के लिए क्या-क्या करणीय है और विदेशों के साथ अपने देश के किस प्रकार के सम्बन्ध हों, इन बातों का निर्णय राज्य नहीं कर सकता। इनके निर्णय के लिये एक पृथक् संस्थान् होना चाहिये जिसे धर्म-सभा का नाम दिया जा सकता है। राज्य धर्मसभा द्वारा नियत धर्मों का पालन कराने के लिये हो। यदि राज्य स्वयमेव धर्म-व्यवस्था भी बनायेगा और फिर उस धर्म-व्यवस्था को चालू भी करेगा तो राज्य अपने सुविधा के लिये धर्म-व्यवस्था में हेर-फेर करने लगेगा।

: 7 :

सामाजिक कार्य—वर्ण व्यवस्था (धर्म सभा)

धर्म की व्याख्या करते हुए हमने लिखा था कि धर्म दो प्रकार के हैं। व्यक्तिगत और समष्टिगत। हमने यह भी बताया था कि व्यक्तिगत धर्मों के विष्य में व्यवस्था तो विद्वान लोग दे सकते है, परन्तु उनका पालन करना व्यक्ति के अपने साथ सम्बन्ध रखने के कारण यह व्यक्ति का अपना हो कर्तव्य है। इस विषय में विद्वान लोग धर्म की व्यवस्था तो दे सकते हैं। वे प्रेरणा भी दे सकते हैं, परन्तु पालन करना व्यक्ति के अपने अधीन होता है।

उदाहरण के रूप में वेश्यावृत्ति राज्य नियम से वर्जित कर दी गयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, परन्तु भूमण्डल के किसी भी देश में यह नि:शेष नहीं हुई। यदि यह कहा जाये कि यह अधिक विस्तार पा गयी है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। राज्य-नियम से वेश्यावृत्ति वर्जित करने का परिणाम केवल यह हुआ है कि वेश्यायें नगरों में किसी एक स्थान पर सीमित न हो कर सर्वत्र फैल गयी हैं तथा वेश्याओं के तलबगार वेश्याओं के लिये एक निश्चित स्थान न होने के कारण यत्र-तत्र वेश्याओं को ढूँढ़ते-फिरते हैं और भले विचार की स्त्रियों को भी पथ-भ्रष्ट करने की प्रेरणा देते रहते हैं। यही कारण है कि इस युग में यौन-सम्बन्ध में ढिलाई उत्पन्न हो रही है। जब किसी बुरी वस्तु को ढूँढने के लिये कठिनाई उपस्थित की जाये तो उस वस्तु को पाने की इच्छा करने वाले उसको बुरा कहे जाने का विरोध करते हैं। जब नगरों में वेश्याओं के लिये निश्चित स्थान नहीं रहे तब वेश्याओं की इच्छा रखने वाले वेश्यावृत्ति को बुरा मानने का विरोध करने लगे हैं। यह प्रवृत्ति प्राय: उन देशों में प्रचलित होती जाती है, जहाँ वेश्यावृत्ति कानून से वर्जित है।

हमने यह बताया है कि व्यक्तिगत धर्मों के विषय में समाज नियम नहीं बना सकता। इन धर्मों की व्यवस्था विद्वान लोग करते हैं और प्रेरणा देकर उनका पालन कराते हैं।

सामाजिक धर्मों के लिये धर्म-सभा का निर्माण किया जाता है। इनको विधान सभा (Legislative Body) भी कहा जा सकता है। प्रजातन्त्रात्मक देशों में विधान सभा और प्रशासन संस्था एक ही होती है। हमने ऊपर यह बताया है कि प्रशासन के हाथ में यदि धर्म-व्यवस्था देने का कार्य सौंप दिया जाये तो क्या-क्या दोष उत्पन्न हो जायेंगे। सबसे बड़ा दोष हमने यह बताया है कि शासन अपनी सुविधा के लिये धर्म को विकृत कर देगा। उदाहरण के रूप में शासन को चलाने के लिये धन की व्यवस्था यदि स्वयं करे अर्थात् जनता पर कर लगाने का अधिकार शासन को ही हो तो शासन अपनी आवश्यकताओं को सीमित नहीं रखेगा और कर की मात्रा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढ़ाता चला जायेगा।

अभिप्राय यह है कि शासन और धर्म-सभा पृथक्-प्रथक् होनी चाहियें। धर्म-सभा में ऐसे लोग हों जो स्वयं शासक तो न हों, परन्तु शासन के ढंग को जानें और साथ ही जनता के कल्याण को समझें। इस अवस्था में धर्म -सभा शासन पर नियन्त्रण रख सकेगी और वह शासन को जनता की सामर्थ्य के अनुसार साधन उपलब्ध करायेगी; साथ ही सनातन, अनिवार्य, सदैव रहने वाले धर्मों का उल्लंघन शासन को भी नहीं करने देगी।

धर्म-सभा में कौन लोग बैठें? यदि धर्म-सभा में धर्म के विषय में अर्थात् जनता पर शासन करने वाले लोगों के कर्तव्यों का निर्णय होना हो तो उसमें केवल वे लोग ही बैठ सकते हैं जो स्वंय धर्मशास्त्र के ज्ञाता हों। धर्म शास्त्र से हमारा अभिप्राय कानून से है। कानून के दो अंग हैं। सनातन धर्म अर्थात् वे धर्म जो अपरिवर्तनशील हैं। इनमें अस्तेय अर्थात् चोरी न करना; शौच—गन्दगी न फैलाना; इन्द्रिय निग्रह— इन्द्रियों को अपने वश मे रखना; इनका दुरुपयोग न करना; क्रोध न करना और झूठ न बोलना मुख्य हैं। इन विषयों में धर्म-सभा का कार्य है दण्ड-व्यवस्था करना। इन धर्मों का स्वरूप तो भलीभाँति वर्णन किया हुआ है। इनका उल्लंघन करने के लिये दण्ड की व्यवस्था करना धर्म-सभा का काम है। यह दण्ड-व्यवस्था भी जल्दी-जल्दी नहीं बदल सकती। शताब्दियों के व्यतीत होने पर भी इन धर्मों का उल्लंघन करने वालों के लिये दण्ड प्राय: निश्चित ही रहता है।

दूसरे प्रकार के धर्म हैं जिन्हें सामयिक कर्म कहते हैं। ये काल, अवस्था और स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरण के रूप में मालिक-नौकरों का सम्बन्ध है; कर-व्यवस्था है; विवाह सम्बन्धी नियमोपनियम हैं। मकान बनाने के अथवा मकान के ढंग पर नियमोपनियम हैं। इसी प्रकार के अन्य ऐसे कार्य जो देश की स्थिति के साथ-साथ बदल जाते हैं, सामयिक धर्म कहलाते हैं। वास्तव में इन धर्मों की व्यवस्था के लिये ही धर्म-सभा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता रहती है। धर्म-सभा सनातन धर्म अथवा सामयिक धर्म पर व्यवस्था देती है। अर्थात् उन धर्मों का स्वरूप निश्चय करती है और उनका उल्लंघन करने वालों के लिये दण्ड का विधान करती है।

: 8 :

सामाजिक कार्य—वर्ण-व्यवस्था—(न्याय-व्यवस्था)

धर्म-सभा धर्म के स्वरूप का वर्णन करती है और उस स्वरूप का उल्लंघन करने वालों के लिये दण्ड का विधान करती है, परन्तु यह सभा यह निश्चय नहीं कर सकती कि किसने धर्म का उल्लंघन किया है और उसको कितना दण्ड देना उचित है। धर्म-सभा व्यवस्था तो देती है, परन्तु उस व्यवस्था को कार्यान्वित नहीं कर सकती। यदि धर्म-सभा ही न्यायकर्त्ता हो जाये तो न्याय में असुविधा देख धर्म की व्यवस्था को ही बदल देगी।

उदाहरण के रूप में यदि अधिक संख्या में लोग विवाह में दिये वचनों को भंग करने लग जायें और यदि धर्म-व्यवस्था उन नियमों को भंग करने वालों को दण्ड देने में असमर्थ हो तो वह विवाह में दिये जाने वाले वचनों को धर्म व्यवस्था से निकाल देना सुगम समझेगी और इस प्रकार धर्म का स्वरूप बिगड़ता चला जायेगा।

इसी कारण न्याय करने वाली संस्था धर्म-सभा से पृथक् होनी चाहिये। इस संस्था को न्यायाधिकरण (judiciary) कहते हैं। देश-भर में न्याय करने वाले पूर्ण यन्त्र का यह नाम है।

न्यायकर्त्ता कौन नियुक्त करे और इस अधिकरण में किसको नियुक्त किया जाये, एक विचारणीय विषय है। कुछ देशों में साधारण जनता को भी न्यायकर्त्ता मान लिया गया है। चीन में (People's Court) सार्वजनिक न्यायालय चालू किये गये थे। अब भी कभी-कभी और कहीं-कहीं ऐसे न्यायालय कार्य करते देखे जाते हैं। बंगाल में जब यह प्रदेश कम्युनिस्ट सरकार के अधीन हुआ था, कई गाँवों में लोग इकट्ठे होकर किसी विचारित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपराधी को दण्ड देने का विधान कर देते थे।

भारत में अभी एक दण्ड विधान है (पीनल कोर्ट) और सार्वजनिक न्यायालय अवैधानिक हैं। इस पर भी जब कभी लोगों का बस चलता है तो ऐसे न्यायालय बन जाते हैं और दण्ड का विधान कर दिया जाता है।

प्राचीन काल में भारत में पंचायती राज्य था। पंचायतों को छोटे-मोटे अपराधों को दण्ड देने का विधान था। आज भी कई राज्यों में पंचायतें बना दी गयी हैं और उनको छोटे-मोटे अपराधों के लिये दण्ड देने की स्वीकृति है।

परन्तु धर्म की दृष्टि में सार्वजनिक न्यायालय वर्जित हैं। न्यायाधीश बिना धर्म-व्यवस्था के जाने न्याय नहीं कर सकता और पंचायतों में धर्म-व्यवस्था जानने वाले ही पंच होंगे, निश्चित नहीं है। अतएव सब सभ्य समाजों में न्यायाधिकरण एक विशेष विभाग है।

वह विभाग अति योग्य, अनुभवी और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के अधीन होना चाहिये। न्यायाधीश सदैव चरित्रवान, बुद्धिमान, ज्ञान-विज्ञान का जानने वाला, धर्म के विषय का ज्ञान रखने वाला, धीर एवं वीर व्यक्ति ही हो सकता है। समाज को चाहिये कि ऐसे लोगों को इस कार्य पर नियुक्त करे जो ईश्वर में अगाध विश्वास रखने वाले हों और बड़े-से-बड़े शक्तिशाली अथवा ऊँचे पदाधिकारी को भी निर्भीकता से अन्याय का दंड दिला सकें। इसके साथ ही समाज को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि जिससे न्यायाधीश की मानप्रतिष्ठा सर्वोपरि रहे।

यह ठीक है कि न्यायालय किसी प्रकार की धर्म-व्यवस्था में परिवर्तन नहीं कर सकता। न्यायाधीशों को धर्म जैसा धर्म-सभा ने निश्चय किया है, के अनुसार न्यायदान करना चाहिये।

न्यायाधीशों का निर्वाचन यदि जनता के हाथ में दे दिया जाये तो लगभग वही बात हो जायेगी जो पंचायतों को न्याय का अधिकार देने से होती है। पंच लोग उन लोगों के साथ न्याय नहीं करेंगे जो पंचों के निर्वाचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अधिक मत दिलवा सकते हैं। न ही पंचायत किसी ऐसे इक्के-दुक्के व्यक्ति से न्याय कर सकती है जो बहुसंख्यक मतदाताओं के अनुकूल न हो। पंचों अथवा न्यायाधीशों के सार्वजनिक निर्वाचन से न्यायाधीश निर्दोष, परन्तु निर्बल के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे।

न्यायाधीश की नियुक्ति यदि किसी राजनीतिक अधिकारी के हाथ में दे दी जाये तब भी न्याय का विश्वास नहीं हो सकता। कारण यह कि राजनीतिक अधिकारी के अन्याय करने पर नियुक्त न्यायधीश न्याय नहीं कर सकेंगे। अतएव न्यायाधीशों की नियुक्ति अथवा इनका निर्वाचन एक बहुत कठिन समस्या है। इस समस्या का सुझाव केवल मात्र यही है कि ब्राह्मण (विद्वान) वर्ग में से न्यायाधीश चुनने का अधिकार न्याय-दण्ड विधान के ज्ञाताओं के निर्वाचन द्वारा हो। दूसरे शब्दों में कानून के कॉलेजों के प्राध्यापक और प्रिन्सिपल तो हों मतदाता और प्रत्याशियों की सूची में न्याय एवं दण्ड विधान के वे विद्वान् हों जो विश्वविद्यालयों में न्याय दर्शन पढ़े हों और अपने चरित्र तथा विद्वत्ता के लिये विख्यात हों।

भारत जैसे विशाल देश में यदि सब स्थानों पर कार्य करने वाले न्यायाधीशों का निर्वाचन हो तो एक अति कठिन समस्या बन जायेगी। इस कारण सुझाव यह है कि राज्यों में एक-एक मुख्य न्यायाधीश का निर्वाचन हो जो उस राज्य में न्यायाधिकरण का निर्माण करे और उसमें न्यायाधीश नियुक्त करे। सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश भी देश-भर के सब न्याय के कॉलेजों और प्राध्यापकों के द्वारा निर्वाचित हो और अपने सहयोगी न्यायाधीशों को वह ही नियुक्त करे। यह व्यवस्था समय-समय पर सुधारी भी जा सकती है और इस व्यवस्था को सुधारने के लिये देश के राष्ट्रपति को अपनी सम्मति-दात्री सभा की नियुक्ति करनी चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 9 :

सामाजिक कार्य—वर्ण-व्यवस्था- (राष्ट्रपति)

वर्ण-व्यवस्था के प्रारम्भिक वक्तव्य में हमने समाज की उपमा एक मानव-शरीर के साथ दी थी। इस शरीर में जैसे आत्मा है वैसे ही समाज में राष्ट्रपति का पद होना चाहिये। जैसे शरीर के अवयव आयु व्यतीत होने के साथ बढ़ते एवं जीर्ण होते रहते हैं, इसी प्रकार समाज में परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु शरीर में जैसे आत्मा अविचल रहता है इसी प्रकार समाज में राष्ट्र पति स्थायी रूप में अथवा एक लम्बे काल के लिये उपस्थित रहना चाहिये। आत्मा शरीर के सब कामों में काल, दिशा एवं विधि निश्चय करता है। इसी प्रकार समाज में राष्ट्रपति समाज के सम्पूर्ण कार्यों का काल, दिशा एवं विधि निश्चय करने के लिये होता है। कार्य तो शरीर के अंग-प्रत्यंग करते हैं, परन्तु आत्मा के आदेश पर। इसी प्रकार समाज के भिन्न-भिन्न विभाग अपना कार्य करते हैं, परन्तु राष्ट्रपति के आदेश पर। पूर्ण समाज के कार्यों का समन्वय करने के लिये राष्ट्रपति नियुक्त होता है। ऐसा भी हो सकता है कि समाज के विभिन्न अंग एक दूसरे के विरोध में आ जायें। उस स्थिति में राष्ट्रपति का अधिकार होना चाहिये कि वह परस्पर विरोध करने वाले विभागों में समन्वय कर सके। ऐसे अवसर प्राय: आते रहते हैं कि जब राज्य एक ऐसा कार्य करता है जिसे न्यायालय स्वीकार नहीं करता अथवा धर्म-सभा कुछ ऐसी व्यवस्था देती है, जिसको शासन चालू नहीं करना चाहता अथवा नहीं कर सकता। कभी ऐसी भी बात हो जाती है कि शासन कुछ कार्य करता है, जिसे धर्म-सभा, धर्म विपरीत समझती है अथवा न्यायालय न्याय-संगत नहीं मानता। इन सब अवस्थाओं मे राष्ट्रपति को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी एक स्थिति बंगाल में उपस्थित हो चुकी है। उच्च न्यायालय अधिकारियों के घेराव को न्याय विरुद्ध घोषित कर चुका है, परन्तु घेराव चलते हैं और शासन घेराव करने वालों को दण्ड नहीं देता। वहाँ का राज्यपाल मुख देख रहा है और देश का राष्ट्रपति हस्तक्षेप करने में अपने को अशक्त पाता है। परिणाम यह हो रहा है कि अवैधानिक घेराव डालने वाले मज़े में अवैधानिव कार्य कर रहे हैं और शासन उनको दण्ड नहीं देता अथवा नहीं दे सकता।

ऐसी परिस्थिति इस कारण उपस्थिति हो रही है कि राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल को एक व्यर्थ का पद समझा जा रहा है। उसके अधिकार अति सीमित हैं।

ऐसे समाज में जो वर्ण-व्यवस्था के अनुसार कार्य करता हो, राजा अथवा राष्ट्रपति वही अधिकार रखता है, जो शरीर में आत्मा रखती है। राज्यपाल अथवा राष्ट्रपति समाज के विभिन्न अंगों को अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता देते हुए भी यह देखने का अधिकार रखते हैं कि सब विभाग अपने-अपने अधिकारों के भीतर और धर्मानुसार आचरण रख रहे हैं अथवा नहीं।

वर्ण-व्यवस्था वाले समाज में राष्ट्रपति का स्थान ऐसा है कि जिसके बिना समाज के भिन्न-भिन्न अंगों का समन्वय नहीं हो सकता। इस कारण यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति का सम्बन्ध पूर्ण समाज के साथ होना चाहिये। अतएव यदि तो राष्ट्रपति परम्परागत जन्म से माना जाये तब भी और यदि वह निर्वाचित किया जाये तब भी इसका पद ऐसा होना चाहिये जो भावना से समाज के प्रत्येक घटक के साथ सम्बन्ध रखता हो। यह तब ही हो सकता है जबकि समाज का प्रत्येक घटक इस बात को जानता हो कि राष्ट्रपति अथवा राजा एक परम पवित्र पद है और इस पर नियुक्त व्यक्ति पाप अथवा अपराध नहीं कर सकता। जब इस पद पर आसीन व्यक्ति किसी एक परिवार में उत्पन्न होने से पद पर आसीन हो तो यह राजा कहलाता है। ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति में वह जन्मकाल के लिये राजा बना रहता है। केवल घोर अव्यवस्था का अपराधी होने पर ही वह पद से हटाया जाता है। ऐसी प्रथा अर्थात् राष्ट्रपति अथवा राजा किसी विशष्ट परिवार में जन्म लेने से हुआ हो, आजकल अमान्य हो रही है।

प्राय: देशों में राजा का पद समाप्त कर दिया गया है और उसके स्थान पर निर्वाचित उच्च पदाधिकारी नियुक्त किया जाता है। जिन देशों में राजा का पद अभी तक उपस्थित है, वहाँ भी इस पद को केवल वैधानिक पद ही माना जाता है और उसके अधिकार अत्यन्त क्षीण कर दिये गए हैं।

उदाहरण के रूप में इंग्लैण्ड में राजा है, परन्तु उसके अधिकार एक रबड़ की मोहर के समान हैं। वह न तो अपनी ओर से कोई राज्य-कार्य कर सकता है और न ही किसी से राज्य-कार्य करा सकता है। जो कुछ वहाँ की विधान-सभा निश्चित करती है, उस पर वह मोहर लगा देता है और वहाँ का राज्य उसको कार्य में लाता है। राजा विधान-सभा के कार्य में एक बिन्दु-भर भी इधर-उधर नहीं कर सकता।

जिन देशों में यह उच्च पद निर्वाचन से भरा जाता है, वहाँ इस पद के अधिकारी को राष्ट्रपति कहते हैं। राष्ट्रपति के पद की अवधि भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। अमेरिका के राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रति चार वर्ष में होता है। फ्रांस में राष्ट्रपति का निर्वाचन सात वर्ष उपरान्त होता है और भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन पाँच वर्ष के उपरान्त होता है। जिन देशों में राष्ट्रपति निर्वाचन से चुना जाता है, वहाँ भी राष्ट्रपति के अधिकारों में सीमा होती है। कहीं-कहीं तो राष्ट्रपति लगभग रबड़ की मोहर के समान ही संसद का समर्थन करने वाला होता है। कई एक देशों में राष्ट्रपति का अधिकार बहुत बड़ा होता है। अमेरिका में राष्ट्रपति देश का शासक है। वह वहाँ के संविधान के अनुकूल देश में शासन करता है। भारत में राष्ट्रपति के अधिकार लगभग वैसे ही हैं जैसे इंग्लैण्ड में राजा के हैं। जो कुछ दोनों में अन्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखायी देता है, वह भारत में संयुक्त गणराज्य होने के कारण है। भारत में बहुत-से राज्य हैं, जिनको एक केन्द्रीय राज्य के अधीन रखा गया है। प्रत्येक राज्य में राज्यपाल है, जिसके राज्य में लगभग वही अधिकार हैं, जो पूर्ण देश में राष्ट्रपति के हैं। ये राज्यपाल देश के राष्ट्रपति से नियुक्त किये जाते हैं। देश का राष्ट्रपति इनकी नियुक्ति केन्द्रीय मन्त्री-मण्डल के परामर्श से करता है। पूर्ण देश का राष्ट्रपति निर्वाचित होता है। इसका निर्वाचन पूर्ण देश की विधान सभाओं के सदस्य तथा केन्द्रीय संसद के दोनों सदनों के सदस्य मिलकर करते हैं। प्रत्येक मतदाता के मत का मूल्य उसके राज्य की जनसंख्या के अनुसार नियत किया गया है अर्थात् छोटे राज्यों में एक विधेयक के मत का मूल्य कम है और बड़े राज्यों में एक विधेयक का मूल्य अधिक है। संसद के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य एक समान है और यह सबसे अधिक है।

इस प्रकार यह कहा जाता है कि राष्ट्रपति पूर्ण देश के लोगों का निर्वाचित पदाधिकारी है, परन्तु वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रपति की नियुक्ति अथवा उसका निर्वाचन इस प्रकार नहीं हो सकता। राष्ट्रपति जनता द्वारा सीधा निर्वाचित होना चाहिये। भारत में प्रचलित व्यवस्था से राष्ट्रपति राजनीतिक दलों की विचारधारा से प्रभावित होता है। विधान-सभाओं और संसद में सदस्यों का निर्वाचन दलगत होने से भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिरूप होता है और वे राष्ट्रपति का निर्वाचन भी अपनी विचारधारा के अनुरूप ही करते हैं। जिस विचारधारा के सदस्य अधिक होंगे उसी विचारधारा का राष्ट्रपति होगा और फिर वह अपनी विचारधारा के दल पर नियन्त्रण रख सकने में असमर्थ होगा। ऐसा राष्ट्रपति निष्पक्ष नहीं हो सकता और वर्ण-व्यवस्था वाले देश में समाज के भिन्न-भिन्न अंगों में ठीक समन्वय भी नहीं कर सकेगा।

अतः राष्ट्रपति जो मुख्यतः समाज के भिन्न-भिन्न विभागों में समन्वय करने के लिये नियुक्त होता है, वह सीधा पूर्ण जनता के मत से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र्वाचित होना चाहिये। इसके लिये पूर्ण देश के वयस्क नागरिकों को मतदान का अधिकार होना चाहिये।

किसी काल में राष्ट्रपति किसी विशिष्ट परिवार में जन्म लेने के कारण ही बन सकता था। ऐसी अवस्था में राष्ट्रपति राजा कहलाता था और वह परिवार जिसमें उत्पन्न होने के कारण कोई व्यक्ति राज्यपद पाता था, राज-कुल कहलाता था। राजकुल में से जीवन-काल के लिये राजा नियुक्त होना अथवा किसी का जनता द्वारा निर्वाचित होकर राष्ट्रपति बनना तब तक ही सम्भव है, जब तक कि जनता का अथवा बहुसंख्यक जनता का विश्वास उस पर हो। राज-कुल में भी, जनता का विश्वास मिलने पर ही उस कुल का कोई घटक राजा बनाया जाता था। अनेक बार ऐसा हुआ है कि अविश्वास हो जाने पर जनता ने न केवल राजा को ही बदला, वरन् राज-कुल को भी पदच्युत कर दिया। इसी प्रकार यत्र-तत्र राष्ट्रपति को भी उनके राष्ट्रपति होने की अवधि से पहले पदच्युत किया जाता देखा गया है। वास्तविक बात है राष्ट्रपति अथवा राजा पर जनता का विश्वास।

यह कहा जाता है कि राजा की अवस्था में पद से हटाना अधिक कठिन है और राष्ट्रपति जो निर्वाचन से पद पर स्थापित हुआ है, सुगमता से हटाया जा सकता है। दोनों में अन्तर तो है, परन्तु यह अन्तर तब ही रह सकता है, जबकि राष्ट्रपति ईमानदार हो और जनता सज्ञान हो। साथ ही राष्ट्रपति को अथवा राजा को उसके अवांछनीय होने पर हटाना तब ही सम्भव हो सकता है जबकि प्रजा में बुद्धि हो और संगठन शक्ति हो; अन्यथा राजा को अथवा राष्ट्रपति को पदच्युत करना एक कठिन समस्या है। इस कारण इस पद पर किसी को भी नियुक्त करने के समय बहुत सावधानी का प्रयोग करना चाहिये। पद और शक्ति मनुष्य के मस्तिष्क को विकृत कर सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 10 :

समाज में समन्वय-1

हमने इस अध्याय की पूर्व कण्डिकाओं में यह बताने का यत्न किया है कि आश्रम-धर्म समाज के घटकों को योग्य नागरिक बनाने के निमित्त है। इस कार्य में राज्य अर्थात् प्रशासन का हस्तक्षेप अवांछनीय है। आश्रम-व्यवस्था निजी रूप में चलनी चाहिये। यदि व्यक्ति-निर्माण में शासन का हस्तक्षेप स्वीकार किया गया तो व्यक्ति एक मशीन के पुर्जे के तुल्य ही रह जायेगा।

आश्रम-व्यवस्था उस समय से आरम्भ होती है, जबकि बच्चा माँ के पेट में बन रहा होता है। जन्म के उपरान्त माता, तदनन्तर पिता और फिर परिवार इस व्यवस्था में अपनी-अपनी भूमिका प्रस्तुत करते हैं। इसके उपरान्त शिक्षक, शिक्षणालय और नगर अथवा गुरुकुल का वातावरण व्यक्ति के निर्माण में योगदान देते हैं। इस पूर्ण कार्य में समाज के अनेक घटक बालक-बालिकाओं पर प्रभाव डालते हैं। यह सब व्यक्ति के निर्माण में भाग लेते हैं। शिक्षा के उपरान्त एक व्यक्ति के निर्माण में और उस व्यक्ति के सामाजिक कार्य लेने में सबसे अधिक सहायता पति की अवस्था में पत्नी और पत्नी की अवस्था में पति देता है। तदनन्तर गृहस्थ-जीवन के नियमोपनियम इसमें सहायक होते हैं।

समाज का एक विशिष्ट अंग बाणप्रस्थ आश्रम हैं। इन दो आश्रमों में व्यक्ति अपनी उस योग्यता को जो उसने शिक्षा द्वारा अथवा गृहस्थ आश्रम में अनुभव से प्राप्त की है, उसका समाज के हित में प्रयोग करता है। यह प्रयोग करने वाला व्यक्ति ही होता है। समाज इससे लाभ उठाता है।

वास्तविक सामाजिक कार्य तो वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत है। सामाजिक कार्य सात बताये हैं—1 शिक्षा कार्य; 2 अर्थ उपलब्धि; 3 सुरक्षा;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4 धर्म-व्यवस्था; 5 राज्य-व्यवस्था; 6 न्याय-व्यवस्था और 7 राष्ट्रपति पद।

ये सातों कार्य एक-दूसरे से पृथक्-पथक् हैं। सब एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता और न ही इनके करने वालों की नियुक्ति सब लोग कर सकते हैं। अभिप्राय यह कि इन सब कामों के करने वाले वयस्क मतों से न तो निर्वाचित हो सकते हैं और न ही उनमें से निर्वाचित किये जा सकते हैं। निर्वाचन करने वाले और निर्वाचित होने वाले उस योग्यता को रखने वाले होने चाहियें जो उस विभाग में आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि निर्वाचन-अधिकार जो योग्यता से प्राप्त होता है और प्रत्येक प्रकार की योग्यता समाज के सब घटकों में न होती है और न हो सकती है।

उदाहरण के रूप में शिक्षा-कार्य है। यदि यह कहा जाये कि किसी विश्वविद्यालय का उपकुलपति उस क्षेत्र की पूर्ण जनता से निर्वाचित हो, यह बात अयुक्तिसंगत और अव्यवहारिक होगी। जनता भले ही शिक्षित हो; इस पर भी सब में न तो समान योग्यता होगी और न ही उन सब की योग्यता उप-कुलपति के निर्वाचन के योग्य होगी।

अतएव कुलपति का निर्वाचन अथवा नियुक्ति न तो सर्वसाधारण में से किसी की भी की जा सकती है और न ही सर्वसाधारण को उसका निर्वाचन करने का अधिकार है। एक विशिष्ट योग्यता का व्यक्ति ही इस पद पर नियुक्त किया जा सकता है और उसका निर्वाचन अथवा उसकी नियुक्ति करने वाला भी विशिष्ट योग्यता रखने वाले होने चाहियें। इसमें हमारा मत है कि विश्वविद्यालय के कुलपति के निर्वाचन में मतदाता स्नातकोत्तर पदवी प्राप्त और शिक्षण-कार्य में संलग्न व्यक्ति ही हो सकते हैं। विश्वविद्यालय क्षेत्रीय भी हो सकते हैं और सार्वदेशिक भी। क्षेत्रीय विद्यालयों के कुलपतियों का चुनाव उसी क्षेत्र में रहने वाले तथा शिक्षण कार्य में लगे हुए स्नातकों द्वारा ही होना चाहिये और किसी सार्वदेशिक विश्वविद्यालय के कुलपति का चुनाव उस विश्वविद्यालय के शिक्षण कार्य में संलग्न स्नातकों के द्वारा होना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्यालयों के कुलपति अपनी सहायता के लिये विश्वविद्यालयों से अथवा बाहर से भी उपयुक्त व्यक्तियों की सलाहकार समितियाँ बनाकर विश्वद्यिाद्यालय का कार्य और विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों की नियुक्ति कर सकते हैं। साथ ही एक विश्वविद्यालय अपने अधीन कई महाविद्यालय, विद्यालय, पाठशालाएँ खोल सकता है। उनमें कार्य करने वाले अध्यापक वर्ग भी परामर्शदाता समितियों से नियुक्त किये जा सकते हैं। हमारा यह मत है कि प्रारम्भिक शिक्षा (प्राइमरी ऐजुकेशन) विश्वविद्यालयों से भी स्वतन्त्र रखकर निजी रूप में कार्य करने वाले अध्यापकों द्वारा दी जानी चाहिये। इन प्रारम्भिक पाठशालाओं से शिक्षित उत्तीर्ण विद्यार्थियों की भरती उच्च पाठशालाओं में प्रवेश-परीक्षाओं से की जानी चाहिये। उच्च पाठशालाओं की शिक्षा-समाप्त कर विद्यार्थियों को विद्यालयों में प्रवेश भी विद्यालय की प्रवेश-परीक्षा उत्तीर्ण करने पर मिले। इसी प्रकार विद्यालयों से महाविद्यालयों में और महाविद्यालयों से विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिये विद्यार्थियों की पाठ्यक्रम समिति निश्चय करे और प्रारम्भिक पाठशालाएँ, विद्यालय, महाविद्यालय सब उस निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा दें।

इस प्रकार किसी क्षेत्र का अथवा पूर्ण देश का शिक्षा कार्य चलना चाहिये। इस कार्य में राज्य का अथवा समाज के किसी अन्य विभाग का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। राज्य अथवा विभाग केवल अपने विभाग की आवश्यकताओं की घोषणा किया करें और विश्वविद्यालय उनको उचित समझें तो उसके अनुसार अपनी शिक्षा को दिशा दें।

शिक्षा विभाग में वे लोग ही कार्य करें जो ब्राह्मण (विद्वान) वर्ण के गुण, कर्म और स्वभाव रखते हों। ये ब्राह्मण वर्ण के लोग ही प्रत्येक प्रकार की शिक्षा दें जिससे उस शिक्षा के पठित स्नातक समाज के सब विभागों में कार्य करने के योग्य हो सकें। प्रारम्भिक पाठशालाएँ, पाठशालाएँ और विद्यालय तो सामान्य शिक्षा ही दें जिससे विद्यार्थी के शारीरिक, मानसिक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में सहायता मिले। महाविद्यालयों में सैद्धान्तिक, परन्तु विशेष विषयों की शिक्षा हो। उदाहरण के रूप में रसायन विद्या, भौतिकी विद्या, खनिज विद्या, खगोल विद्या, इतिहास, भूगोल इत्यादि की सैद्धान्तिक शिक्षा दी जाये। विश्वविद्यालय में तो केवल भिन्न-भिन्न विषयों में अन्वेषण कार्य ही चलना चाहिये। तकनीकी ज्ञान अर्थात् सैद्धान्तिक विद्याओं की सामाजिक जीवन में प्रयोग की शिक्षा भिन्न-भिन्न सरकारी अथवा निजी क्षेत्रों में जहाँ विज्ञान के उस प्रयोग का काम पड़ता हो, दी जानी चाहिये।

उदाहरण के रूप में सिविल इंजीनियरिंग का अपना पृथक् विद्यालय होना चाहिये। इसका सम्बन्ध क्षेत्र अथवा देश के इंजीनियरों के साथ हो। इसी प्रकार रासायनिक तकनीकी (Chemicai technology) शिक्षा का प्रबन्ध उन सरकारी अथवा निजी कारखानों के साथ होना चाहिये जो रासयन शास्त्र का प्रयोग जीवनोपयोगी रूप में करना चाहते हैं। इसी प्रकार अन्य तकनीकी कार्यों की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये।

महाविद्यालयों अथवा विद्यालयों में शिक्षित स्नातक सरकारी अथवा निजी कार्यालयों, व्यवसायों अथवा अन्वेषणालयों में भरती किये जा सकते हैं। प्रत्येक भरती के स्थान पर उनकी अपनी प्रवेश-परीक्षा होनी चाहिये।

इस प्रकार शिक्षा राज्य से स्वतन्त्र और शिक्षा कार्य में संलग्न ब्राह्मणों से चलायी जा सकेगी। जहाँ तक धन का सम्बन्ध है, यह वर्तमान अवस्था में सरकार को देना होगा। सरकार प्रारम्भिक पाठशालाओं से लेकर अन्तिम विश्वविद्यालयों तक के कार्यों के लिये धन दे और इस धन के लिये एक ऐसा नियम बनाये जिससे कि प्रारम्भिक पाठशालाओं के संचालक एवं विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों के अनुपात में धन मिल सके। यदि सरकार धन न देना चाहे तो सरकार को जनता से प्राप्त किये जाने वाले करों में भारी कमी करनी होगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तब शिक्षण संस्थाओं को जनता से धन लेने का यत्न करना होगा।

इस प्रकार की शिक्षा का परिणाम यह होगा कि शिक्षित सरकार के लिये निर्माण नहीं होंगे, वरन् सरकार पढ़े-लिखों के अनुकूल बनेगी। शिक्षण संस्थाएँ शिक्षित जनता का निर्माण करेंगी और जैसा शिक्षित वर्ग होगा, उसमें से सरकार अपने भिन्न-भिन्न विभागों के लिये कर्मचारी प्राप्त करेगी। इसमे राज्य पर और सरकार के अन्य विभागों पर शिक्षित वर्ग का अधिपत्य हो जायेगा।

उदाहरण के रूप में सेना के लिये सिपाही चाहियें। जो लोग विद्यालयों की अथवा पाठशालाओं की शिक्षा समाप्त कर उच्च स्तर की शिक्षा में प्रवेश पाने में असफल होंगे, वे सेना में भरती हो सकेंगे। वहाँ उनकी प्रवेश-परीक्षा हो और जो लोग उस प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण हों, वे सैनिक प्रशिक्षण पायें और उस सैनिक प्रशिक्षण के उपरान्त वे सेना में कार्य कर सकेंगे।

पूर्ण शिक्षा एवं प्रशिक्षण कार्य बाह्मण गुण, कर्म और स्वभाव के लोगों के हाथ में हो।

संक्षेप में शिक्षा-संस्थान् मनुष्य को सब प्रकार से, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक दिशाओं में क्षेष्ठ बनाने के लिए हैं। व्यावहारिक, व्यावसायिक अथवा औद्योगिक शिक्षा तत्सम्बन्धी उद्योग व केन्द्र अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार उचित प्रत्याशी लेकर उनको प्रशिक्षण देकर कार्य पर लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 11 :

समाज में समन्वय—2

समाज का अत्यावश्यक विभाग वह है जो अर्थ उपार्जन करता है अर्थात् वे लोग जो समाज में धन निर्माण करते हैं।

धन मानव परिश्रम का एक रूप ही है। मानव परिश्रम के लिये कोई भौतिक आधार होना चाहिये। आधार का अर्थ है परिश्रम करने के लिये कुछ पदार्थ। उदाहरण के रूप में एक किसान अन्न उत्पन्न करता है। इसके परिश्रम का आधार है भूमि तथा हल, फावड़ा इत्यादि यन्त्र। बिना भूमि और यन्त्रों के किसान परिश्रम नहीं कर सकता। इसी प्रकार धन उपार्जन करने वाले अन्य श्रमिकों के लिये भी परिश्रम के साथ परिश्रम का आधार होना आवश्यक है।

धन उपार्जन करने वाले वर्ग को वैश्य वर्ण में माना गया है। इसमें भी वे लोग ही लगेंगे जो विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में शिक्षण समाप्त कर उच्च कोटि की शिक्षा में प्रवेश नहीं पा सके होंगे। विद्यालयों से शिक्षा प्राप्त कर महाविद्यालयों में प्रवेश न पाने वाले विद्यार्थी वैश्य समाज के किसी भी कार्य में संलग्न हो सकते हैं। वैश्य का कर्म समाज के लिये अत्यावश्यक इस कारण है कि समाज के अन्य सब विभाग अपने कार्य को करने के लिये धन इस वर्ण से ही प्राप्त करते हैं। शिक्षा, सेना, न्यायालय और अन्य ऐसे कार्य जिनमें से कुछ उपलब्धि नहीं होती, सब वैश्य से प्राप्त धन के आश्रय चलते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि समाज के अन्य विभाग धनवानों के अधीन हो जायें। इसका केवल मात्र अर्थ यह है कि इस वर्ण से उपलब्ध धन समाज के पूर्ण अंगों में प्रयोग हो सके।

वैश्य वर्ग में मुख्य रूप से कृषि-कार्य, पशु-पालन कार्य, खनिज पदार्थों की उपलब्धि और अन्य प्राकृतिक पदार्थों को मानवोपयोगी बनाने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य आते हैं। इन कार्यों में संलग्न लोग धनोपार्जन करते हैं और वह धन समाज के हित में दो प्रकार से वितरण होता है। एक, सरकारी करों द्वारा और दूसरे, दान-दक्षिणा द्वारा।

सरकारी करों से प्राप्त धन सरकार ही प्रयोग कर सकती है। यदि कर बहुत अधिक हो और उसका प्रयोग समाज के भिन्न-भिन्न विभागों में सरकार ने करना हो तो किया जा सकता है, परन्तु इस प्रयोग का यह अर्थ नहीं है कि सरकार उस विभाग में हस्तक्षेप करने लगे।

शिक्षा के विषय में हम ऊपर बता चुके हैं कि सरकार प्रारम्भिक पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों तक इनके संचालकों को अनुदान दे। परन्तु उस अनुदान के साथ यह देखने के अतिरिक्त कि दिये अनुदान का दुरुपयोग नहीं हो रहा, सरकार को अन्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार सैनिक विभाग की बात है। सैनिक विभाग में अपार धन व्यय होता है, परन्तु सैनिक विभाग शासन विभाग के साथ सम्बन्ध रखता हुआ कार्य कर सकता है। इस पर भी सैनिक विभाग का अपना कार्य है और इसके अपने अधिकारी हैं, जो देश की सुरक्षा के उच्च अधिकारी से सम्पर्क रखते हुए कार्य कर सकते हैं।

वर्तमान प्रजतंत्रात्मक पद्धति में देश की अर्थ-व्यवस्था की चिन्ता राज्य को करनी पड़ती है। यह उचित ही है! कारण यह कि यदि देश की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ जाये तो समाज के कई अंग अस्त-व्यस्त हो सकते हैं। अतएव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राज्य देश की अर्थ-व्यवस्था के ऊपर कितना नियन्त्रण रखे कि जिससे समाज के प्रत्येक विभाग को उचित धन मिलता रहे। प्रजातंत्रात्मक पद्धति वालों ने देश की आर्थिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिये अधिक और अधिक अर्थ उपलब्धि के साधनों पर अधिकार जमाना उचित समझा है। परिणाम यह हो रहा है कि प्राय: सब प्रजतन्त्रात्मक पद्धति वाले राज्यों में राज्य एक ओर तो परिश्रम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधारों अर्थात् उन पदार्थों पर अधिकार करता चला जाता है, जिन पर परिश्रम कर धनोपार्जन हो सकता है और दूसरी ओर परिश्रम के स्रोत अर्थात् मानव घटकों पर भी अपना अधिकार करता चला जाता है। राज्य यह समझता है कि समाज के सब विभागों में धन पहुँचाना उसका कर्तव्य है। अतएव उसको धन के स्रोतों पर अपना अधिकार कर लेना चाहिये। यह विचार समाजवाद का बीज बन जाता है। जब राज्य मानव-परिश्रम और परिश्रम के आधारभूत पदार्थों पर अधिकार जमाकर भी धन का वितरण भलीभाँति नहीं कर सकता, तब यह स्वयमेव धन उपलब्धि के कामों को कराने लग जाता है। समाज का यह स्वरूप पूर्ण समाजवाद का है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में जहाँ समाज के घटकों का निर्माण राज्य-कार्य के अन्तर्गत नहीं माना गया, प्रत्युत यह शिक्षा-विभाग का कार्य समझा गया है, वहाँ अर्थ उपलब्धि का कार्य भी राज्य का कार्य नहीं माना गया। इसे व्यक्तिगत कार्य ही समझा गया है। व्यक्तिगत और समष्टिगत कार्यों में अन्तर यह आ जाता है कि व्यक्तिगत कार्यों में उद्योग अथवा व्यवसाय का लाभ-हानि कार्यकर्त्ता के साथ निकटतम सम्बन्ध रखता है और समष्टिगत धनोपार्जन के कार्यों में कार्य करने वाले का सम्बन्ध हानि-लाभ से सीधा नहीं रहता।

समष्टिगत उपायों में हम सहकारी अथवा लिमिटेड कम्पनियों की गणना नहीं करते। सहकारी अथवा लिमिटेड कम्पनियों में भी कार्याध्यक्ष एवं हिस्सेदारों (share holders) का सम्बन्ध हानि-लाभ से सीधा रहता है। इस कारण इनको हम व्यक्तिगत उद्योग-धन्धा ही मानेंगे। समष्टिगत उद्योग-धन्धों में हम उन उद्योग-धन्धों की गणना करते हैं, जिनमें कार्य-संचालन नौकरशाही से होता हो; अर्थात् उच्च-से-उच्च अधिकारी से लेकर छोटे-से-छोटा कर्मचारी सब-के-सब वेतनधारी होते हैं और उनके वेतन का सम्बन्ध उद्योग-धन्धों के हानि-लाभ से नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमने यह बताया है कि वर्ण धर्म में धनोपाजर्न एक व्यक्तिगत बात मानी जाती है। इस कार्य में लगा हुआ प्रत्येक व्यक्ति सीधा अपने कार्य के हानि-लाभ से सम्बन्ध रखता है। यही इस व्यवस्था का गुण है। जहाँ नौकरशाही अपने वेतन के लिये ही चिन्ता करती है, वहाँ व्यक्तिगत उद्योग-धन्धों में प्रत्येक कार्य करने वाला कार्य के हानि-लाभ से सम्बन्धित होने के कारण लाभ की चिन्ता करता रहता है। इससे जातीय शक्ति का पूर्ण उपयोग हो सकता है और व्यर्थ जानेवाली शक्ति और पदार्थ न्यूनातिन्यून हो जाते हैं।

ऐसे उद्योग-धन्धों में जिनमें एक से अधिक लोग काम करते हैं, लाभ के बँटवारे पर मतभेद हो जाना स्वाभाविक बात है; अर्थात् पूँजी लगाने वाला, प्रबन्ध करने वाला, माल को उन्नत करने वाला और कर्मचारी, माल को तैयार करने वाला; सब-के-सब मिलकर काम करते हैं। अतएव लाभ का कितना-कितना भाग किस-किस को मिले, इस पर मतभेद होना एक स्वाभाविक बात है। इसको निपटाने के लिये राज्य का हस्तक्षेप माना जाता है। वर्ण धर्म के अनुसार कार्य करने वाली समाज में राज्य को विवाद में भी हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। विवाद चाहे तो किसी व्यवसाय और उद्योग के पत्तीदारों में हो अथवा किसी मालिक और नौकर में हो, इसको निपटने के लिये न्यायालय ही उपयुक्त स्थान है। धर्म-सभा मालिक और नौकर के सम्बन्धों के विषय में अथवा मालिक और मालिक (पत्तीदारों) के परस्पर विवाद में नियमोपनियम बनाती है और उन नियमोपनियमों के अनुसार न्यायालय विवाद का निपटारा करता है।

प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में राज्य, धर्म-सभा और न्यायालय दोनों का काम स्वयमेव करने लगता है और समाजवादी ढाँचे में मालिक, नौकर, धर्म-सभा और न्यायालय सब का काम राज्य स्वयं करने लग जाता है। यह एक दूषित पद्धति है। ऐसी अवस्था में राज्य जब भी किसी प्रकार की कठिनाई देखेगा तो तुरन्त बलशाली वर्ग के अनुकूल नियमोपनियम बना देगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फिर उसके अनुसार विवादों में निपटारा कर देगा। वह अपराधी, पीड़ित, पीड़ित का वकील और न्यायाधीश स्वयं बन जाता है और स्वयं ही नियमोपनियम बनाकर उनको लागू कर देता है। यह व्यवस्था न केवल अयुक्तिसंगत है, वरन् अति हानिकर भी है। इससे धनोपलब्धि करने वाले वर्ग में आलस्य, प्रमाद, अनुत्तरदायित्व एवं उच्छृङ्खलता उत्पन्न होने लगती है। इन सबको रोकने के लिये राज्य को पुलिस और सेना से भी सहाायता लेकर अपना कार्य चलाना पड़ता है।

ऐसी स्थिति में आर्थिक व्यवस्था का नाम कम्युनिज़्म बन जाता है।

वर्ण-व्यवस्था वाले समाज में राज्य का कार्य केवलमात्र शान्ति-व्यवस्था बनाये रखना है। यह शान्ति-व्यवस्था देश के भीतरी शत्रुओं से होगी; साथ ही विदेशी शत्रुओं से होगी। राज्य का शान्ति बनाये रखना ही एक कार्य है। देश के व्यवसाय के अथवा उद्योग-धन्धों के परस्पर झगड़ों का निपटारा राज्य का कार्य नहीं, वरन् न्यायालय का कार्य है।

धर्म-सभा तो सैद्धान्तिक व्यवस्था ही देती है। यह उस व्यवस्था को लागू करने का यत्न नहीं करती और न ही लागू करना इसका कर्तव्य माना जाता है। न्यायालय समाज के विभिन्न घटकों में उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय उन नियमोपनियमों के अनुसार करता है जो धर्म-सभा ने निश्चय किय होते हैं।

हमने ऊपर यह बताया है कि वैश्य वर्ग धन की उपलब्धि करे और उस धन का वितरण या तो करों के द्वारा किया जाये अथवा दान-दक्षिणा से। वर्ण-व्यवस्था वाले समाज में राज्य को कर प्राप्त करने का अधिकार होता है, परन्तु कर कितना हो और किस-किस से प्राप्त किया जाये, यह व्यवस्था धर्म-सभा देती है, राज्य नहीं देता। धर्म-सभा निश्चय करती है कि राज्य को कर कितना मिले ? राज्य उस कर को लेकर समाज के भिन्न-भिन्न विभागों में बाट देता है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राज्य यह कार्य क्यों करे?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य अपने लिये अर्थात् अपने कार्य के लिये तो धन लेगा ही; शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिये राज्य को एक विशाल राशि में धन की आवश्यकता रहती है। पुलिस, सेना और शान्ति व्यवस्था तथा अन्य कार्यों के लिये मन्त्रालय को चलाना पड़ता है। राज्य को इसके लिये जितना भी धन चाहिये, वह मिलना चाहिये। अत: इसके लिये तो राज्य को कर लगाना ही पड़ेगा।

यह कहा जा सकता है कि शिक्षा के लिये अथवा न्यायालयों को चालू रखने के लिये अथवा अन्य ऐसे कार्यों को करने के लिये जिनका सम्बन्ध शासन अर्थात् शान्ति-व्यवस्था के साथ नहीं है, उनके लिये करों का प्रयोग नहीं होना चाहिये। हम भी समझते हैं कि समाज के इन विभागों (शिक्षा, न्यायाधिकरण इत्यादि) को समाज की दान-दक्षिणा से ही चलाना चाहिये। इसके लिये कर की व्यवस्था नहीं होनी चाहिये। यह दान-दक्षिणा प्रेरणा से ही प्राप्त की जानी चाहिये।

न्यायाधिकरण पर व्यय किये जाने वाले धन की उपलब्धि करों से प्राप्त करने को हमने वर्जित माना है। करों से प्राप्त धन के द्वारा न्यायाधीशों को वेतन देने से न्यायाधीशों में राज्य के प्रति दासता का भाव उत्पन्न होने लगेगा। वर्ण धर्म में न्यायाधीशों को सर्वथा स्वतन्त्र रखने की अत्यन्त आवश्यकता है।

शिक्षणालय इत्यादि समाज के विभागों के लिये धन की व्यवस्था कैसे हो, यह एक जटिल प्रश्न है। यदि राज्य के अतिरिक्त कोई और संस्थान् निर्माण किया जाये, जो जनता से धन प्राप्त करके इनको दे, तब भी बात वही हो जायेगी जो राज्य की ओर से धन देने की हो सकती है। यदि कोई सभा, समाज न्यायाधीशों और शिक्षा देने वाले आचार्यों को वेतन इत्यादि दे तो वह भी अपनी इच्छा की पूर्ति उनसे कराना चाहेगा। मान लीजिये कि आर्यसमाज एक शिक्षणालय चलाता है। निस्संदेह वह उस शिक्षाणालय में अपनी इच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और विचार की शिक्षा देना चाहेगा। वहाँ भी आचार्यों को शिक्षा देने की स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। इसी प्रकार न्यायाधीश वेतनधारी होने के कारण वेतन के स्रोत भले ही वह राज्य न हो, से प्रभावित होगा।

अतएव वर्ण-व्यवस्था वाली समाज में यह यत्न किया जाता है कि आचार्य तथा न्यायाधीश समाज के किसी भी घटक अथवा अंग से वेतन पाने वाले न हों। आचार्यों के पास अपनी सम्पत्ति होनी चाहिये, जिससे वे स्वतन्त्रापूर्वक निर्वाह कर सकें और अपनी इच्छा से शिक्षा प्रदान कर सकें। यही बात न्यायाधीशों की होनी चाहिये। वर्ण-व्यवस्था वाले समाज में यह यत्न किया गया है कि न्यायाधीश और आचार्य अपनी आवश्यकताओं को न्यूनातिन्यून रखें। उनमें मोक्ष प्राप्ति की भावना उत्पन्न करके त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरणा दी जा सकती है। इसके साथ ही राज्य की ओर से अथवा धनी-मानी वैश्य समाज की ओर से उनको अनुदान के रूप में बिना किसी प्रकार की शर्त के रहने को मकान, खाने को भोजन, पहनने को कपड़े और अन्य सुविधा के पदार्थ दिये जायें। इस अनुदान के साथ किसी प्रकार की शर्त नहीं हो। आचार्य अथवा न्यायाधीश अपनी शिक्षा-दीक्षा अथवा स्वभाव से प्रेरित इस अनुदान के साथ किसी प्रकार की शर्त स्वीकार नहीं करते। वे अपना कार्य स्वतन्त्र रहते हुए धर्मानुसार पालन करने का यत्न करते हैं।

आजकल के समाजशास्त्री इस बात को असम्भव मानते हैं। उन्हें इस व्यवस्था में अस्वाभाविकता यह समझ में आती है कि कोई क्यों बिना किसी प्रतिकार की आशा में किसी अन्य को अपना धन-सम्पदा देगा अथवा राज्य क्यों किसी व्यक्ति और वर्ग को बिना अपने नियन्त्रण के धन दे। समाजशास्त्रियों का अपना ऐसा विचार करना उनकी शिक्षा-दीक्षा में भारी अन्तर होने के कारण है। वैदिक वर्ण-व्यवस्था का आधार ही आस्तिकवाद है। बिना परमात्मा, जीवात्मा, कर्म-फल और पुनर्जन्म पर विश्वास रखे, कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी व्यक्ति विद्वान अथवा अविद्वान, बिना किसी प्रतिकार के किसी को कुछ भी देना स्वीकार नहीं करता। कहने का अभिप्राय यह है कि वैदिक संस्कृति कर्म और कर्म-फल के विश्वास पर टिकी हुई है और इसी विश्वास का परिणाम है कि लोग दान-दक्षिणा देते है और उस दान-दक्षिणा के प्रतिकार में अपने लिये किसी प्रकार की आशा नहीं रखते।

कुछ भी हो शिक्षण केन्द्र और न्यायालय समाज के किसी भी घटक अथवा संस्था के अधीन नहीं होने चाहियें और इन संस्थाओं को चलाने वाले ऐसे व्यक्ति हों जैसा कि भगवद्गीता के इस श्लोक में वर्णित है—

शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।

(18-42)

अर्थात्— जिसका अन्त :करण शान्त; अभिप्राय यह कि न भड़कने वाला हो; जिनका मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण हो; जो भीतर और बाहर से निर्मल हो; जिनमें धर्म-कार्य की सिद्धि के लिए तप अर्थात् लग्न से कार्य में संलग्न रहने का स्वभाव हो; जो क्षमा भाव रखता हो; जिसका हृदय निष्कपट हो; जिनकी बुद्धि आस्तिक विचार की हो और जो ज्ञान-विज्ञान के जानने वाला हों; ऐसे ब्राह्मण स्वभाव के व्यक्ति ही आचार्य-पद और न्यायाधीश के पद पाने के योग्य होते हैं।

वर्तमान युग में ऐसे आचार्य एवं न्यायाधीशों की प्राप्ति कठिन होगी। वर्तमान नास्तिक समाज में निष्पक्ष और विद्वानों के पालन-पोषण का प्रबंध समाज के लोग स्वत: नहीं कर सकेंगे। इस कारण जब तक समाज के व्यक्ति आश्रम-धर्म की सुव्यवस्था से निर्माण नहीं हो जाते तब तक देश के धनी-मानी लोगों अथवा राज्य को बिना किसी प्रकार की शर्त के इन कामों में लगे हुए लोगों के पालन-पोषण का प्रबन्ध करना ही होगा। इसको करने के लिए राज्य की ओर से सामान्य कर-व्यवस्था के अतिरिक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष कर की व्यवस्था करनी पड़ेगी। और उस विशेष कर से प्राप्त धन को अनुदान के रूप में मुख्य न्यायाधीश के द्वारा अथवा विश्वविद्यालयों के कुलपतियों के द्वारा वितरण करने का प्रबन्ध करना होगा। सामान्य कर अति न्यून हो। भारत की प्राचीन धर्म-व्यवस्था के अनुसार आय के छटे भाग से अधिक नहीं होना चाहिये। यह सामान्य कर देश में धर्म-विरोधी आन्तरिक और विदेशी शत्रुओं से रक्षा के लिये प्रयोग हो। विशेषकर शिक्षण केन्द्रों के अथवा न्यायाधीशों के द्वारा व्यय हो और इसकी व्यवस्था अर्थात् यह कर कितना हो और कितना-कितना शिक्षण संस्थाओं और न्यायालयों को मिले, धर्म सभा ही निश्चय करे। इसका वितरण अथवा व्यवस्था राज्याधीन नहीं हो।

: 12 :

समाज में समन्वय—3

वर्ण-व्यवस्था वाली समाज में हमने शिक्षा-विभाग, अर्थ-विभाग, शासन अर्थात् भीतरी और बाहरी शत्रुओं से सुरक्षा का विभाग, धर्म-व्यवस्था और न्याय-व्यवस्था का वर्णन किया है। ये सब विभाग एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। सब का प्रबन्ध ब्राह्मण वर्ण के लोग करते हैं और ब्राह्मण वर्ग की सहाायता के लिये प्रत्येक विभाग में भिन्न-भन्न वर्ण के लोग कार्य करते हैं। अभिप्राय यह है कि इन विभागों में विधि-विधान तो ब्राह्मण निश्चय करते हैं और कार्य दूसरे वर्णों के लोग करते हैं। उदाहरण के रूप में अर्थ उपलब्धि के कार्य में ब्राह्मण इस वर्ग के नियमोपनियम, विधि-विधान निश्चय करते हैं और वैश्य वर्ग उसके अनुसार अर्थ की उपलब्धि करते हैं। हम एक गाँव का उदाहरण लें जिसमें कृषि-कार्य होता है। उस गाँव की भूमि का बँटवारा और चकबन्दी तथा सिंचाई के लिये जल इत्यादि का प्रबन्ध करने वाले तो ब्राह्मण ही होंगे और उस प्रबन्ध के अधीन कार्य करने वाले किसान होंगे। किसान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन विधि-विधान का जो अधिकारी ब्राह्मण वर्ग निश्चय करें, पालन करते हुए अपने-अपने खेत में स्वतन्त्रतापूर्वक परिश्रम करेंगे और उसका फल भोग करेंगे। प्रबन्धक ब्राह्मण वर्ग देश की धर्म-सभा की व्यवस्था के अधीन कार्य करेंगे।

इसी प्रकार अन्य विभागों में कार्य हों। उदाहरण के रूप में प्रशासन में व्यवस्था का विधान करने वाले तो ब्राह्मण लोग हों। ये ब्राह्मण लोग धर्म-सभा से विचारित व्यवस्था के अनुसार ही व्यवस्था करें, परन्तु प्रशासन में प्रबन्ध करने वाले दो वर्ण के व्यक्ति होंगे। पुलिस और सेना में क्षत्रिय वर्ग के और प्रशासन के अन्य कार्यों में शूद्र वर्ण के। ब्राह्मण वर्ण के लोग तो केवल विधि-विधान एवं नियमोपनियम का निर्माण ही करें, परन्तु उनके नियमोपनियमों के अनुसार कार्य करने वाले शासक हों। सबसे प्रमुख शासक जो किसी समय राजा कहलाता था, अब मुख्य प्रशासक के नाम से समझा जा सकता है। यह मुख्य प्रशासक राज्य-विभाग में नियुक्त ब्राह्मण की सम्मति से प्रशासन का कार्य चलाये। प्रशासन में पुलिस और सेना को क्षत्रिय माना है, परन्तु अन्य कर्मचारियों को शूद्र कहा है।

यह इस प्रकार है कि मानो प्रशासन में ब्राह्मण मुख्य मन्त्री एवं मन्त्री हैं और वे मुख्य प्रशासक अर्थात् मुख्य अधिष्ठाता (administrator) हों। इस अथवा इन पदों पर नियुक्त व्यक्तियों को राजा भी कहा जा सकता है। राजा के अधीन सेना होगी, पुलिस होगी और सचिव (secretary) विभागधिकारी (superintendent) लेखाकार, क्लर्क और चपरासी इत्यादि होंगे।

राजा से लेकर इस विभाग के साधारण चपरासी तक मन्त्रियों से दी गयी व्यवस्था के अनुसार कार्य करें और मन्त्रीगण धर्म-सभा की व्यवस्था मानें। इन सब के ऊपर और सब विभागों में समन्वय करने वाला राष्ट्रपति हो। समाज के विभिन्न विभागों में विरोध न उत्पन्न हो, ऐसी व्यवस्था करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिये ही राष्ट्रपति का पद है।

परस्पर विरोध का एक उदाहरण इस प्रकार हो सकता है। प्रशासन कुछ अधर्माचरण करने वालों को पकड़ता है, परन्तु बिना दण्ड दिये छोड़ देता है। ऐसा करना प्रशासन का कार्य नहीं है। प्रशासन अधर्माचरण करने वालों को पकड़ने का अधिकारी तो है, परन्तु वह अभियुक्त छोड़ने योग्य है अथवा दण्ड देने योग्य है, इसका निर्णय प्रशासन नहीं कर सकता। उसे तुरन्त न्यायालय के अधीन कर देना चाहिये और यह देखना कि अभियुक्त को छोड़ा जाये अथवा दण्ड दिया जाये, न्यायालय का काम है।

एक और उदाहरण लिया जा सकता है। एक गाँव में कुछ लोग दूसरे की भूमि पर अधिकार कर लेते हैं। जिनकी भूमि पर अधिकार हुआ है वे उसके प्रतिकार में किसी दूसरे का मकान छीन लेते हैं। उन पर नियुक्त ब्राह्मण (पटवारी) व्यवस्था देता है, परन्तु अधिकार करने वाले मानते नहीं और गाँव वाले बलपूर्वक स्वयं निर्णय करना चाहते हैं। यह निर्णय करना अर्थ-व्यवस्था में संलग्न व्यक्तियों अथवा अधिकारियों का कार्य नहीं है। इसमें न्यायाधीश ही निर्णय दे सकता है।

एक और उदाहरण लें। धर्म-सभा ऐसी व्यवस्था देती है कि जिससे सनातन-धर्मों का उललंघन होता है। मान लें, धर्म-सभा यह निश्चय करती है कि किसी व्यक्ति को अपने पास पाँच सौ रुपये से अधिक रखने का अधिकार नहीं। यदि होगा तो राज्य ले लेगा और लेकर राज्य उसको उनमें बाँट देगा, जिनके पास पाँच सौ रुपये से कम हैं। यह व्यवस्था सनातन धर्म के अनुसार अस्तेय धर्म का विरोध करती है। अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का अभिप्राय यह है कि किसी की धर्मयुक्त सम्पत्ति को कोई ऐसा व्यक्ति न ले, जिसका उसके उपार्जन में कुछ भी योग नहीं है और धर्म-सभा की उक्त व्यवस्था में यही कुछ किया गया है। अर्थात् जिसके पास पाँच सौ रुपये से अधिक हैं, उस अधिक को लेकर उनमें बाँट दिया जाये, जिनके पास पाँच सौ से कम हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मयुक्त उपार्जित सम्पत्ति को उपार्जन में सहयोग न देने वाले को देना चोरी करना होगा अथवा चोरी कराना होगा।

इस प्रकार के व्यवहार को जिससे समाज का एक विभाग किसी दूसरे विभाग का कार्य करने लगता है अथवा कोई विभाग अधर्मयुक्त व्यवहार करने लगता है अथवा धर्म-सभा सनातन-धर्मों का उल्लंघन करने लगती है तब राष्ट्रपति हस्तक्षेप करता है और वह समाज के भिन्न-भिन्न विभागों को अपना-अपना कार्य ठीक ढंग से करने के लिये आदेश देगा।

: 13 :
उपसंहार

प्रजातन्त्रात्मक पद्धति उस कार्य को करने में असमर्थ सिद्ध हुई है जिसके लिये इसका निर्माण हुआ था। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था राज्य अथवा राजाओं के अधर्माचरण को रोकने के लिये निर्माण की गयी थी। यह इस कार्य में असफल हुई है। यह राज्यों के अथवा राज्याधिकारियों के अधर्माचरण को रोकने के स्थान इसमें वृद्धि करने में ही समर्थ हुई है।

इसमें कारण यह कि इस व्यवस्था में धर्म निर्णय अज्ञानियों के मतों से किया जाने लगा है। जन-साधारण के हाथ खड़ा करने अथवा मतदान से धर्म का निश्चय नहीं हो सकता। धर्म (कानून) का निर्णय करने के लिये भारतीय धर्मशास्त्र यह व्यवस्था देता है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(मनु० 2-6)

अर्थात्—वेद (ज्ञान) सम्पूर्ण धर्म का मूल है। स्मृतिशास्त्र (कानून की पुस्तकों) में लिखा शील (श्रेष्ठ व्यवहार) धर्म का लक्षण है। महात्माओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आचरण और उनको सन्तोष देने वाला आचरण धर्म समझना चाहिये।

अर्थात् धर्म-व्यवस्था (कानून) विद्वान साधु-स्वभाव लोगों द्वारा दी जानी चाहिये। प्रजातन्त्र पद्धति इसके विपरीत है। बहुसंख्यक जनता को सर्वाधिकार सम्पन्न मान लेने से धूर्त और वाचाल लोग अधिकारी बन जाते हैं।

परिणाम यह होता है कि इस व्यवस्था में कामनाओं की वृद्धि होती है और अनधिकारी व्यक्तियों को उपलब्धियाँ प्राप्त कराने से मोह उत्पन्न होता है। इससे अराजकता का व्यापक साम्राज्य उत्पन्न हो रहा है।

इसका विकल्प वर्णाश्रम व्यवस्था है। इसका मूल विचार गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार अधिकारों का भोग करना है।

आज स्थिति यह है कि अनधिकारी अधिकार प्राप्त कर चुके हैं। उन्होंने ऐसी व्यवस्था की है जिसमें धूर्त और वाचाल समाज की पूर्ण शक्ति पर अधिष्ठित हो चुके हैं। वे अपने अधिकारों को स्वेच्छा से नहीं छोड़ेंगे।

इसके लिये क्रान्ति भी उपयुक्त उपाय नहीं है। क्रान्ति तो एक हथौड़े से चट्टान फोड़ने के तुल्य है। हथौड़े से चट्टान के टूटने पर तो विनाश ही होता है। निर्माण नहीं होता। अत: क्रान्ति हो अथवा न हो, सुख-शान्ति का उपाय वर्ण-व्यवस्था लागू करने का प्रबल प्रचार है।

जैसे सुख-शान्ति के लिये आदि युग में व्यक्तियों को अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान कर समाज का निर्माण करना पड़ा था, वैसे ही जनता को अपने सुख-सुविधामय जीवन के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था स्थापित करने के लिये भ्रान्तिपूर्ण प्राप्त अधिकार में से कुछ का त्याग करना होगा।

एक बार प्रबल जनमत बन गया तो कदाचित् क्रान्ति की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और प्रजातन्त्र में से ही वर्ण-व्यवस्था का प्रादुर्भाव होने लगेगा। और यदि कुछ आसुरी स्वभाव के लोगों ने व्यवस्था स्थापित न होने दी तो फिर गृह-युद्ध भी हो सकता है। उसके लिये भी श्रेष्ठ और बुद्धिशील लोगों को तैयार रहना चाहिये।

****

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति का अध्ययन

राष्ट्र राज्य और संविधान	गुरुदत्त
बुद्धि बनाम बहुमत	गुरुदत्त
भारत में राष्ट्र	गुरुदत्त
भारत गान्धी नेहरू की छाया में	गुरुदत्त
धर्म तथा समाजवाद	गुरुदत्त
स्व अस्तित्व की रक्षा—1	गुरुदत्त
स्व अस्तित्व की रक्षा—2	गुरुदत्त
वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान हिन्दू राष्ट्र	गुरुदत्त
हिन्दुत्व की यात्रा	गुरुदत्त
मनुष्य और समाज	गुरुदत्त
धर्म संस्कृति और राज्य	गुरुदत्त
मैं हिन्दू हूँ (हिन्दू धर्म की मान्यताएँ)	गुरुदत्त
अन्तिम यात्रा (डॉ. मुखर्जी की)	गुरुदत्त
ज़िन्दगी का सफर—	बलराज मधोक
1. लद्दाख से दिल्ली तक	
2. स्वतन्त्र भारत की राजनीति का संक्रमण काल	बलराज मधोक
जीत या हार	बलराज मधोक
जीत में हार	बलराज मधोक
भारतीयकरण	बलराज मधोक
मोपला	वीर सावरकर
हिन्दुत्व	वीर सावरकर
हिन्दुत्व के पंच प्राण	वीर सावरकर
गोमान्तक	वीर सावरकर
प्रतिशोध (नाटक)	वीर सावरकर
अमर सेनानी सावरकर	शिवकुमार गोयल
लोकोत्तर द्रष्टा सावरकर	हरिभाऊ देसाई
महामना सावरकर	हरिभाऊ देसाई

Central Library
167938
Gurukula Kangri Deemed to be University, Haridwar
081
167938
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
वर्ग संख्या R 089.9143 GUR-P आगत संख्या 167938

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL K..NGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी.चैम्बर्स, 10/54, डी.बी. गुप्ता रोड, करोल बाग,
नई दिल्ली-5 (समीप पुलिस स्टेशन), चर्च के सामने
फोन -3553624, PP-3617134, Fax-5412417
E-Mail :- indiabooks@rediffmail.com

089
GU
16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar